मुग़ल साम्राज्य की जीवन-सन्ध्या

हमारे कुछ प्रसिद्ध प्रकाशन

बहादुरशाह जफर

मुग़ल साम्राज्य
की
जीवन-सन्ध्या

लेखक

राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह

संसद् सदस्य

१९५७

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

सन ५७ के गदर के अंतिम दिन कैपटेन हडसन के द्वारा शाहज़ादों का कत्ल

सरसरे हादसा बर्खास्त पये ख्वारिए मा,
दाद बरबाद सरोबर्गे जहानदारीए मा।
(दुर्भाग्य का तूफान हमें मिटाने को उठा,
इसने हमारी बादशाहो हुकूमत को मिटा दिया।)

—आफताब (शाह आलम)

न किसी की आँख का नूर हूँ।
न किसी के दिल का करार हूँ।
जो किसी के काम न आ सके,
मैं वह एक मुश्तेग़ुबार हूँ।

मैं वह कुत्ता हूं कि मेरी लाश पर ऐ दोस्त,
एक ज़माना दीद-ए हसरत से तकता जायगा!

—ज़फ़र

दो शब्द

गत वर्ष मैंने दो लेख बहादुरशाह 'ज़फ़र' पर लिखे, एक "सरस्वती" में, दूसरा "आजकल" में प्रकाशित हुआ । हिन्दी-संसार ने इन लेखों का हार्दिक स्वागत किया, प्रशसा के दर्जनों पत्र आये और इन सारे खतों में यह सुझाव था कि ज़फ़र पर मैं कुछ और विस्तार से लिखूं । उन्ही दिनों हिन्दी-संसार के पूर्ण-परिचित, इतिहास के श्रेष्ठ विद्वान, डाक्टर मोतीचन्द दिल्ली पधारे, उन्होंने भी इसके लिए मुझे प्रोत्साहित किया और मैंने अन्ततोगत्वा यह निर्णय किया कि दिल्ली के अन्तिम तीन बादशाहों के—जिनके शासनकाल उर्दू साहित्य का सबसे अधिक अभ्युदय हुआ तथा हिन्दू-मुसलिम संस्कृतियों का समन्वय भी—सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखूं जिसमें स्वभावतः ज़फ़र का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। प्रस्तुत पुस्तक उसी सकल्प का प्रत्यक्षीकरण है।

ज़फर-सम्बन्धी उक्त दोनों लेख आवश्यक संशोधन एव विस्तार के साथ इस पुस्तक में उद्धृत हैं।

बन्धुवर डॉ० मोतीचन्द जी से पुस्तक लिखने की प्रेरणा मिली । श्रद्धेय राय कृष्णदास तथा कलकत्ते के श्री नरेन्द्र सिंघी जी से कुछ प्राचीन चित्र जो इस पुस्तक मे प्रकाशित है, मिले। आप तीनों का मै इनके लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ—आभारी हूँ।

पुस्तक-निर्माण में स्लिमन, विशप हिबर, स्पियर आदि कतिपय अंग्रेज़ लेखकों की पुस्तकों तथा कई मुसलमान मित्रो के प्राचीन घरेलू कागज़ातों एवं सरकारी दफ़्तरो के प्रमाण-पत्रों से साहाय्य प्राप्त हुआ है । प्राप्य वस्तुओं का यदि मै पूर्ण उपयोग करता तो इस पुस्तक की पृष्ठ-संख्या एक हज़ार से ज्यादा होती पर मोटे ग्रंथों का ज़माना चला गया, कार्य-क्षेत्र इतने विस्तृत हो गये हैं कि किसे फुर्सत कि वह हज़ार पृष्ठों के ग्रथ पढ़े— अब ये पुस्तकालयों की ही चीज़ रह गये हैं—अतएव मैंने इस पुस्तक की रूपरेखा जहाँ तक सक्षिप्त हो सकती थी रखने की चेष्टा की है, प्राप्त कागज़ातो से वही मसाले लिये हे जो अत्यन्त ही आवश्यक थे—हंसैर्यथाक्षीरमिवाम्बु-मध्यात् के सिद्धान्त पर।

सन् ५७ के ग़दर को सौ साल हो रहे हैं । इस वर्ष उसकी शताब्दी मनाई जायगी। अफ़सोस है कि इस देश के कुछ विद्वान इतिहासज्ञों ने यह आवाज़ उठायी है

कि यह ग़दर स्वतन्त्रता की लड़ाई न थी तथा दिल्ली के अन्तिम मुग़ल बादशाह बहादुरशाह "ज़फ़र" भीतर-भीतर अंग्रेज़ों से मिले हुए थे । इस पुस्तक के कुछ पृष्ठ उनके इस कथन की असत्यता प्रमाणित करते हैं, खासकर अंग्रेज़ी जासूसों के वे बयान जिनके अवतरण उनमें उद्धृत हैं ।

९२, साउथ एवन्यू
नयी दिल्ली
१९-३-५७

—लेखक

विषय-सूची

चित्र-सूची

मुग़ल साम्राज्य की जीवन-सन्ध्या

१

विषय-प्रवेश

भारतवर्ष के इतिहास में मुग़ल बादशाहत के अन्तिम दिन—इतिहास का वह हिस्सा जिसका आरम्भ शाहआलम के दिल्ली की गद्दी पर बैठने तथा अन्त बहादुरशाह 'ज़फ़र' के देश-निष्कासन से होता है—बड़ी अशान्ति के, उथल-पुथल के, थे पर साथ ही महत्त्वपूर्ण भी थे। एक ओर मुग़ल साम्राज्य का सूर्य धीरे-धीरे अस्तगामी हो रहा था, दूसरी ओर अंग्रेज़ी सत्ता का सितारा ऊपर की ओर बढ़ रहा था। देश के विभिन्न भागों में केन्द्रीय शासन के पाँव उखड़ जाने के कारण एक अराजकता का दृश्य उपस्थित था। छोटी-बड़ी अनेक शक्तियाँ राज्य-स्थापन की चेष्टा में संलग्न थीं—कहीं तो मराठे साम्राज्य-निर्माण के लिए यत्नशील थे, कहीं सिख, जाट और अफ़ग़ान लूट-पाट से धन इकट्ठा कर, अड़ोस-पड़ोस के क्षेत्रों पर आधिपत्य जमा, रजवाड़े क़ायम कर रहे थे। बीच-बीच में, जहाँ-तहाँ, बेग़म समरू-जैसे साम्वन्त किलाबन्दी कर-कर के स्वतंत्र शासक का रूप धारण कर रहे थे–उथल-पुथल की इस परिस्थिति से पूरी तरह लाभ उठा रहे थे। तत्कालीन राजनीतिक दाँव-पेंच में इनका भी काफ़ी हिस्सा था।

प्रस्तुत पुस्तक का सम्बन्ध इन्हीं दिनों से है, ख़ासकर अन्त के तीन मुग़ल बादशाहों—शाहआलम, अकबरसानी तथा बहादुरशाह 'ज़फ़र'—के समय से। आश्चर्य है कि राजनीतिक दृष्टि से यह समय अत्यन्त अशान्तिपूर्ण होता हुआ भी, साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का था—उर्दू साहित्य के पूर्ण विकास का–और उस परिमार्जित भाषा का जिसे 'टकसाली' उर्दू के नाम से पुकारते हैं, यही जनन-काल था। शाहआलम तथा 'ज़फ़र' दोनों ही स्वयं अच्छे शायर तो थे ही, प्रसिद्ध शायरों के आश्रयदाता भी थे। इन्शा, ज़ौक और ग़ालिब इन्हीं दिनों में हुए। 'ज़फ़र' ने, जिनकी आर्थिक अवस्था काफ़ी क्षीण हो चुकी थी, बावजूद तंग हालत के भी, शेरो-सुख़न का बाज़ार गर्म रक्खा—बड़े-बड़े कवियों के पोषक बने रहे,

उस विशाल वृक्ष की भाँति सम्बोधित कर राष्ट्रकवि ने लिखा था—

"बहु कलकंठ खगों के आश्रय, पोषक या प्रतिपाल, प्रणाम।
भव-भूतल को भेद गगन में, उठने वाले शाल, प्रणाम॥

× × ×

अटल, अचल न किसी बाधा से, डरनेवाले, तुम्हें प्रणाम।
शुद्ध सुमन-सौरभ समीर में, भरनेवाले, तुम्हें प्रणाम॥

× × ×

व्रत में रत आतप, वर्षा, हिम, सहनेवाले तुम्हें प्रणाम,
स्वावलम्बयुत, उन्नत भी नत रहनेवाले तुम्हें प्रणाम॥"

निस्सन्देह 'ज़फ़र' उन महापुरुषों में थे जो 'आतप, वर्षा, हिम' समरूप से सहन करके भी स्वावलम्ब को नहीं तजते तथा अपने गुणों का शुद्ध सुमन-सौरभ समीर में भरते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठों में शाहआलम तथा 'ज़फ़र' की शायरी का, यथासाध्य दिग्दर्शन करने की चेष्टा है, दिल्ली तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अवस्थाओं पर भी विहगंम दृष्टि डालने का उद्योग है। और चूंकि तत्कालीन सारी घटनाओं का, राजनीतिक अभिनय का, रंगमंच दिल्ली थी, पुस्तक का आरम्भ दिल्ली सम्बन्धी परिच्छेदों से किया गया है।

पुस्तक के अन्त में—परिशिष्ट रूप में—कई ऐसे विषयों पर लेख हैं जिनका सम्बन्ध ज़फ़र की शायरी में यत्र-तत्र दिये गये निर्देशों से है अथवा तत्कालीन एक-दो प्रसिद्ध घटनाओं से, और कुछ और विषयों से भी। आशा है, ये लेख उपयोगी एवं मनोरंजक प्रमाणित होंगे।

दुर्भाग्यवश इतिहास के जिस हिस्से से यह ग्रन्थ सम्बन्धित है वह भारतवर्ष के लिए राजनीतिक दृष्टि से, गौरव का नहीं बल्कि दुःख का कारण था—वह जबकि इस देश के प्रायः सभी लोगों के मुँह से एक ही उद्गार प्रकटित था—

"दुःख-शोक-जल से प्लावित है, भूमि हमारी सारी।
मित्र! इसे दफनाने की अब, मिल-जुल करो तयारी॥"

उन्हीं दिनों कलकत्ते के एक देश-प्रेमी ऐंग्लो-इण्डियन कवि (डिरोज़ियो) ने भारत की दुरावस्था, अस्तंगत स्वाधीनता, पर, अपने दो मार्मिक सॉनेटो में दुःख के आँसू बहाये थे, लिखा था—

रानी मानबाई (शाहजहान की मा)

"My Country ! in thy Day of glory past
A beauteous halo circled round thy brow,
And Worshipped as a Deity those wast.
Where is that glory, where that reverence now ?
Thy eagle pinion is chained down at last
And grovelling in the lowly dust art there !"

कितनी मार्मिक भावना है यह—

**"गरुड़ पंख तेरे जंजीरों में बंध कर हैं,
पड़ा हुआ है भूमि-भाग पर तू दीनों-सा।"**

और फिर आगे चलकर उसने लिखा—

**"चारण तेरे कौन हार गूंथे हित तेरे।
दुःखों की बस करुण-कथा ही शेषमात्र है।"[1]**

भारत की यह दुरावस्था ही ज़फ़र की शायरी की, बहुत हद तक, पृष्ठ-भूमि है।

शाहआलम की हिन्दी रचनाओं तथा ज़फ़र की कविताओं से ज्ञात होगा कि किस दर्जे तक हिन्दू एवं मुसलिम संस्कृतियों का समन्वय तब तक हो चुका हुआ था तथा इस्लाम धर्मावलम्बी बादशाहों में धार्मिक संकीर्णता की कितनी कमी थी, हिन्दू और मुसलमान दोनों किस तरह एक दूसरे से जा मिले थे। अफ़सोस कि अंग्रेज़ों की कूटनीति ने इस मातृ-भाव को स्थिर न रहने दिया! मजहब के नाम पर कालान्तर न जाने कितने झगड़े हुए, ख़ून-ख़राबियाँ हुईं, और अन्त में हिन्दुस्तान के दो टुकड़े भी हुए। पर धर्म इन लड़नेवालों के लिए एक बहाना मात्र ही रहा, उसकी असलियत को न तो उन्होंने समझा और न उस पर अमल करने की कभी कोशिश ही की, सूफ़ी भावापन्न किसी शायर के यथार्थ शब्दों में—

**"यों तो इस्लाम का दावा है हर एक को लेकिन,
वक़्त आया तो कोई भी न मुसलमां निकला।"**

'जफर' के अशारों में पाठक उनके धार्मिक औदार्य्य एवं सूफ़ी भावनाओं की पूरी झलक पायेंगे। धर्म-भाव की गम्भीरता भी। उनका तथा उनके पिता अकबर सानी का जीवन एक साधु का-सा जीवन था। मिर्ज़ा ग़ालिब ने एक नहीं अनेकों बार अपने कलामों में ज़फ़र की दीदारी

---

१. देखिये परिशिष्ट १।

का, साधुता का, ज़िक्र किया है। पुस्तक के अन्तिम परिच्छेद में इस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है।

कलकत्ते से प्रकाशित (प्रकाशन-काल १९२४ के लगभग) 'मतवाला' नामक साप्ताहिक पत्र के मुखपृष्ठ पर का यह शेर मशहूर हो चुका है।

"कह रहा है आसमां यह सब समाँ कुछ भी नहीं,
पीस दूंगा एक गर्दिश में जहां कुछ भी नहीं।"

आसमां (नियति) का चक्र निस्सन्देह ऐसा है जिसे आजकल कोई भी रोकने में समर्थ न हो सका—

"नियति के हैं पर नियम कठोर,
सका है कौन इसे कब तोड़,
चक्र इसका चलता अविराम,
अमिट हैं दृढ़, इसके सब काम।

× ×

तोड़ता गज-सा सृष्टि-मृणाल
विचरता भव भव में वह काल।"

मुग़ल राजवंश इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

फ़ारसी का एक ग्रन्थ है—"क़वायद अस सुलताने शाहजहां"। प्रातः-काल से लेकर सोने तक बादशाह शाहजहां की प्रतिदिन की क्या दिन-चर्या थी, दरबार के तौर-तरीके क्या थे इत्यादि विषयों की इसमें चर्चा है। पुस्तक के अवलोकन से मुग़ल बादशाहत के तत्कालीन शानो-शौक़त का पूरा परिचय मिलता है—आँखों के सामने उसकी बेहिसाब दौलत और ताक़त की एक तस्वीर-सी खिच जाती है। बानगी-रूप में इस पुस्तक की दो-एक बातें सुनिये।

प्रातःकाल का वर्णन है। बादशाह उषाकाल में शय्या तजते हैं, नमाज़ पढ़ते हैं, क़ुरानशरीफ़ का पाठ करते हैं और फिर शौचादि से निवृत्त हो दरबारियों में नित्य-प्रति वितरित करते हैं, अति स्वादिष्ट भोजन, सुगंधित शराब, विभिन्न प्रकार की मिठाइयाँ, तरह-तरह के फल, बलक के मश्की खरबूजे, काशगर तथा ग़ौर के (आड़ू) हब्सी एवं साहबी जाति के अंगूर, समरक़न्द के सेव और नासपाती, यज़्द तथा जलालाबाद के अनार, गुजरात और दकन के आम, काश्मीर के तरबूजे, अनन्नास, गन्नों के

टकड़े, मीठे अञ्जीर, शहतूत, नारंगी, मौसमी, इत्यादि इत्यादि तथा ग्रीष्म काल में पहाड़ों से आई हुई बर्फ़ के टुकड़े ।

फिर बादशाह दरबार में आकर बैठते हैं तो उनके बाद घनिष्ठता-प्राप्त अमीर-उमरा, ईरान एवं तूरान से आये हुए मिर्ज़ा, भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञाता, विद्वान्, आलिमफ़ाज़िल, बड़े-बड़े सेनानायक, सैय्यद, शेख़, शायर, और फिर तुर्क, अरब, इराके आजम, कुर्द, गुर्द, तातार, इस्थियोपिया, तुर्किस्तान, मिश्र, सीरिया, इराके अरब, इराके आजम, फर, गीलन, मज़न्दरान, साइस्तान, मवर-अल-नहर, खामरेज़म, गुर्जिस्तान (जोर्जिया) आदि से आये हुए लोग तथा हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े राजे-महाराजे, नवाब, ज़मींदार इत्यादि, तिब्बती सरदार एवं कुस्तुनतुनिया, ईरान, तूरान आदि के राजदूत, यूरोप के विविध देशों से आये हुए व्यापारी—बिठाये जाते हैं। बादशाह के सामने तरह-तरह के जवाहरात—हीरा, माणिक, पुखराज, पन्ना वगैरह—पेश होते हैं, वह उनका मूल्यांकन करते हैं ...... ।

और फिर इसी मुग़ल वंश के अन्तिम बादशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने अपने आख़िरी दिन रंगून के एक जेल में अंग्रेज़ों से प्रदत्त तीस रुपये माहवारी पर गुजारे ! ज़फ़र की कवित्व-शक्ति पूर्ण रूप से वहीं प्रस्फुटित हुई, उनकी रंगूनी रचनाएँ उच्च श्रेणी की तथा अतिशय मार्मिक हैं जिनके कुछ नमूने पाठक इस पुस्तक के पृष्ठों में पायेंगे ।

ग्रन्थ का मुख्य सम्बन्ध उपर्युक्त मुग़ल बादशाहों की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक देन से है पर जिस वातावरण में उनके जन्म, विकास और अवसान हुए उसके—उनके कार्य-क्षेत्र की पृष्ठभूमि के—सम्बन्ध में कुछ लिखना आवश्यक नहीं, अनिवार्य-सा प्रतीत हुआ, अतः, संक्षेप में, तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं, दाँव-पेचों, की चर्चा भी करनी पड़ी है—उनकी जिनके वे समय-समय पर शिकार होते रहे ।

अब आइए पुरानी दिल्ली की ओर बढ़ें,

यद्यपि—

> **"वह मुतरिब और वह साज़, वह गाना बदल गया,**
> **नींदें बदल गईं, वह फ़िसाना बदल गया।**
> **रंगे रूखे बहार की ज़ीनत हुई नयी**
> **गुलशन में बुलबुलों का तराना बदल गया॥"**

फिर भी, कुछ खंडहर बाकी हैं, उनकी कथा सुनें

२

दिल्ली

"दिल्ली जो इक शहर था आलम में इन्तख़ाब
रहते थे मुन्तख़ब ही जहाँ रोज़गार के,
उसको फलक ने लूट के वीरान कर दिया—"

उर्दू के एक प्रसिद्ध शायर मीर ने कहा था, पर आज नई दिल्ली की अट्टालिकाओं—इमारतों—को देखकर कौन कवि के इस कथन की सत्यता पर विश्वास कर सकेगा ? किन्तु कवि की इस उक्ति में सत्य ही नहीं, घोर सत्य छिपा है। दिल्ली उन नगरों में है जिसे एक नहीं बारम्बार लुटेरों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा है। और जिन दिनों मीर यहाँ बसते थे वे उन दिनों में थे जब कि दिल्ली की रौनक समाप्त हो चुकी थी, उसके गौरव का सूर्य अस्तप्राय था, मुग़ल-साम्राज्य का पतन हो चुका था, मुग़ल सल्तनत की जगह ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन आरम्भ हो चुका था—दिल्ली की तत्कालीन अवस्था मानों किसी कवि की इस उक्ति को चरितार्थ कर रही हो—

"सदा न बागां बुलबुल बोले, सदा न बाग बहारां।
सदा न ज्वानी रहती यारो, सदा न सोहबत यारां॥"

वह दिल्ली जो एक ज़माने में संसार में अपनी सुन्दरता एवं दौलत के लिए प्रसिद्ध थी, उजड़े हुए चमन की याद दिला रही थी।

दिल्ली शताब्दियों से किसी-न-किसी साम्राज्य अथवा लोक-पाल की राजधानी रही है। कितने नगर बने और बिगड़े, यह इतिहास के पृष्ठ बतलाते हैं अथवा दिल्ली के आस-पास प्रायः ५० मील की परिधि में फैले हुए पुराने खंडहर। प्रागैतिहासिक काल में, पौराणिक आधार पर विशेषज्ञों का कहना है कि आर्यों ने प्रायः ईसा से पूर्व १५वीं सदी में यहाँ आकर एक उपनिवेश का निर्माण किया था। सबसे पहला शहर जो आर्यों ने यहाँ बसाया था और जिसका उल्लेख प्राचीन

ग्रन्थों में पाया जाता है, वह था, इन्द्रप्रस्थ। महाभारत में पाण्डवों के हस्तिनापुर से जाकर जंगलों से नाग नामक एक अनार्य जाति के भगाने तथा जंगल साफ़ कर इन्द्रप्रस्थ के निर्माण की कथा वर्णित है। कहते हैं, यमुना-तट पर वर्तमान फ़िरोज़शाह की कोटला और हुमायूँ की क़ब्र के बीच के इलाके में यह नगर बसा हुआ था। पर आज दिन इसके कोई भी ध्वंसावशेष अथवा चिह्न प्राप्य नहीं हैं, सिवा इन्द्रपत नाम के जिसके द्वारा यह इलाका आज भी ज्ञाप्त है। भागवत पुराण के अनुसार युधिष्ठिर के बाद अर्जुन की तीस पीढ़ियों ने यहाँ शासन किया जब तक कि इस पीढ़ी के अन्तिम सम्राट् के मन्त्री विसर्व ने उससे गद्दी न छीन ली विसर्व वंश के लोगों ने पाँच सौ वर्षों तक राज्य किया। उनके बाद गौतम वंश के १५ राजाओं ने तत्पश्चात् मयूरवंशियों ने। फिर तो हम ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य में पहुँचते हैं, जबकि सर्वप्रथम 'दिल्ली' नाम का प्रवेश होता है। तब तक शहर प्राचीन स्थिति से आगे, दक्षिण दिशा को फैल चुका था, वहाँ जहाँ कि आज कुतुबमीनार खड़ा पठान-शासन की याद दिला रहा है।

जनरल कनिंघम (Cunningham) के कथनानुसार इस नये नगर का निर्माणकर्त्ता दिलू नामक एक राजा था, जो मयूर वंश का अन्तिम सम्राट् था तथा जिसका टालमी (Ptolemy) ने अपने ग्रन्थ में दैदालर (Daidalar) के नाम से उल्लेख किया है। फैरिश्ता का भी यही मत है, और शायद कनिंघम के पूर्वोक्त कथन का आधार फैरिश्ता ही है।

शाक वंशी राजा साकादित्य ने, इतिहासज्ञों का कथन है कि, राजा दिलू से, दिल्ली की गद्दी छीन ली पर वह स्वयं थोड़े दिनों के बाद ही महाराज विक्रमादित्य के द्वारा पराजय को प्राप्त हुआ। इसके बाद कई सदियों तक दिल्ली का कोई पता नहीं मिलता। किंवदन्ति है कि दिल्ली ७८२ वर्षों तक उजाड़ पड़ी रही पर यह बात इसलिए मान्य नहीं कि तीसरी किंवाँ चौथी शताब्दी (ईसोपरान्त) में राजा धाव के प्रसिद्ध लौह स्तम्भ का निर्माण-काल बताया जाता है। इस स्तम्भ के सम्बन्ध में पुरातत्त्व एवं इतिहास के विद्वान् विशेषज्ञों ने तरह-तरह की अटकलबाजियाँ लगाई हैं, पर प्रामाणिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि राजा धाव कौन थे? किन्तु इस पर जो संस्कृत के कुछ शब्द खुदे हुए हैं

उनसे यह साफ़-साफ़ परिलक्षित है कि इसका निर्माता कोई महान् शक्तिशाली व्यक्ति था। जेम्स प्रिंसेप ने इन शब्दों को बड़ी मेहनत से पढ़ा था और उनका कहना है कि इस पर जो पंक्तियाँ अंकित हैं उनमें इस स्तम्भ को राजा धाव की 'कीर्ति-भुजा' कहा है, तथा यह भी लिखा है कि उन्होंने अपने बाहुबल से इस पृथ्वी पर बहुत दिनों तक एकतंत्र शासन किया।[1] निष्कर्ष यह कि इस लेख से यह स्पष्ट है कि राजा धाव कोई प्रतापी शासक था और यह स्वाभाविक है कि दिल्ली उसके राजत्व-काल में धन-धान्य से सम्पन्न रही हो, पर यह कौन था उसका निश्चित पता आज तक न लगा। हाँ, सादृश्यता के सिद्धान्त पर इस शिलालेख का अंकनकाल तृतीय अथवा चतुर्थ शताब्दी आसानी से माना जा सकता है। तोमरवंशीय राजाओं के सम्बन्ध में कनिंघम आदि का मत है कि इस वंश की स्थापना अनंगपाल ने ७३८ ई० में की तथा दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। उसके बाद इस वंश के कई राज्यों ने दिल्ली ही अपनी राजधानी बना रक्खी। पर कालान्तर में ऐसा प्रतीत होता है कि वे कन्नौज चले गये और दिल्ली राजधानी न रही। ११वीं सदी के मध्य में राठौरवंशीय चन्द्रदेव ने द्वितीय अनंगपाल को कन्नौज से मार भगाया और उसे पुनः दिल्ली की शरण लेनी पड़ी, तोमरवंशीय राजाओं की वह फिर से राजधानी बनी। अनंगपाल द्वितीय ने दिल्ली की सजावट के अनेक प्रयत्न किये तथा सुरक्षा के उद्देश्य से 'लाल-कोट' नाम एक किले का निर्माण किया जिसके ध्वंसावशेष अब भी कुतुबमीनार के इर्द-गिर्द पाये जाते हैं। राजा धाव के जिस लौह-स्तम्भ की चर्चा ऊपर की गई है उसके सम्बन्ध में संक्षेप में उसने लिखा है कि "११०९ सम्वत् में अनंगपाल ने दिल्ली बसाई"। कई विद्वानों ने इसी लिखावट के आधार पर यह अटकल लगाया है कि राजा धाव तोमर-कुल का ही कोई व्यक्ति था। सौ वर्षों तक दिल्ली में अमन-चैन बना रहा। पर इस अवधि के बीतते-न-बीतते अजमेर के चौहानवंशीय राजा विशालदेव ने दिल्ली पर आक्रमण किया। अनंगपाल ने पराजय प्राप्त कर उसकी अधीनता ही स्वीकार न की बल्कि अपनी पुत्री भी उसे भेंट की। विशालदेव

१. देखिये परिशिष्ट २।

ने उसे वधू-रूप में स्वीकार किया। इसके ही गर्भ से प्रसिद्ध महाराज पृथ्वीराज उत्पन्न हुए जो कि अनंगपाल के स्वर्गारोहण के बाद दिल्ली की गद्दी पर बैठे और इस प्रकार तोमर एवं चौहान वंशों का एकीकरण किया--उन्हें एक सूत्र में बाँधा।

महाराज पृथ्वीराज दिल्ली के अन्तिम हिन्दू राजा थे, प्रतापी थे, गुणी थे, तथा उनकी कथाएँ भारतवर्ष के इतिहास एवं साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती हैं। कविवर चन्दबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' लिखकर उन्हें अमरत्व प्रदान किया है। सन् ११६१ ई० में मुहम्मद शहाबुद्दीन गौरी का भारतवर्ष पर प्रथम आक्रमण हुआ। पृथ्वीराज के द्वारा उसे हार खानी पड़ी पर वह दो वर्षों में ही पुनः भारत पर चढ़ आया तथा तिलौरी के युद्ध-क्षेत्र में पृथ्वीराज को पराजित किया। पृथ्वीराज बन्दी हुए तथा उसके द्वारा कत्ल कर दिये गये। दिल्ली उसके एक मुख्य सेना-नायक कुतुबुद्दीन के हाथों पड़ी। शहाबुद्दीन गौरी के जीवन-काल तक तो वह दिल्ली पर बतौर उसके प्रतिनिधि के शासन करता रहा पर १२०६ में जब वह मृत हुआ तो कुतुबुद्दीन निज को स्वतंत्र घोषित कर हिन्दुस्तान का बादशाह बन बैठा। वह तुर्क तथा दास वंश का था। अतः वह तथा उसके वंशज दास-कुल के बादशाह कहलाये। दिल्ली की कई मशहूर इमारतें--कुतुबमीनार आदि--इसी वंश के बादशाहों की कृतियाँ हैं।

सन् १२२८ ई० तक दास वंश का शासन रहा, फिर खिलजियों का। इस वंश की नींव डालने वाला जलालुद्दीन खिलजी था पर इस वंश का विख्यात शासक अलाउद्दीन हुआ जिसने दो बार मुग़लों के आक्रमण का सामना किया तथा उन्हें मार भगाया। जिस स्थान पर उसने मुग़ल आक्रमण का सामना कर उन्हें पराजित किया वहाँ, शाहपुर नामक स्थान में, उसने एक क़िले का निर्माण भी किया।

सन् १३२१ ई० तक खिलजियों का राज्य रहा, फिर आया तुग़लक वंश का शासन-काल। इस वंश के ही एक बादशाह गयासुद्दीन ने, तत्कालीन दिल्ली से प्रायः पाँच मील दूर एक नगर बसाया, तुग़लकाबाद, जो अधिक दिनों तक आबाद न रह सका, खण्डहरों में परिवर्तित हो गया। उसका पूरा नाम मुहम्मद तुग़लक था जिसके सम्बन्ध में एलफिंस्टन नामक एक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ने लिखा है—

"He was one of the most accomplished prince, and most furious tyrants, that ever adorned or disgraced human nature."

तीन बार वह अपनी राजधानी दिल्ली से उठाकर देवगिरि (दकन) ले गया और वापस लाया। दिल्ली के वाशिन्दों को वहाँ जाने और लौटने को, राजाज्ञा से, विवश होना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें धन-जन की अपार क्षति तो उठानी ही पड़ी, दिल्ली भी उजाड़-सी हो गई। उन्हीं दिनों इब्नबतूता नामक एक विदेशी (अफ्रीकी) यात्री यहाँ आया था जिसने दिल्ली के सम्बन्ध में लिखा है कि वह एक परम सुशोभित नगर है जिसकी मस्जिदों तथा दीवारों का मुकाबला करने वाली मस्जिदे और दीवारें दुनिया के किसी भी हिस्से में प्राप्य नहीं हैं। पर वह आज आबादी की कमी के कारण मरुभूमि-सा हो रहा है। संसार के सबसे बड़े शहर की आबादी आज सभी शहरों से कम है। मुहम्मद तुग़लक के उत्तराधिकारी फ़िरोज़ ने कुतुब से कई मील उत्तर हटकर एक नया नगर बसाया जिसका नाम फ़िरोज़ाबाद रखा। यह भी आज खण्डहरों में परिणत है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, महाराज पृथ्वीराज मुहमम्द गौरी के हाथों मारे गये और उनके साथ ही हिन्दू अधिपत्य का सूर्य भी इस देश से अन्तर्हित हो गया। हिन्दू शासन के विनाश एव भारतवर्ष में इस्लाम धर्म के प्रदेश के सम्बन्ध में इस्लामी दुनिया में एक रोचक कथा प्राचीन काल से प्रचलित है। किस तरह अरब के एक पीर के द्वारा इस्लाम यहाँ आया तथा चिश्त के ही एक दूसरे प्रसिद्ध पीर का अभिशाप—सुलतान गयासुद्दीन के लिए घातक सिद्ध हुआ, इनके सम्बन्ध में यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा।

कहते हैं मुहम्मद गौरी के भारत-आक्रमण के पूर्व ही चिश्ती सम्प्रदाय के एक परम् विख्यात् पीर ख्वाजा साहिब[१] एक दिन काबे की

---

१. ख्वाजा साहब का जन्म सन्जर नामक एक गाँव में हुआ था। बालपन खुरासान में बीता। उनके पिता सैय्यद गयासुद्दीन अहमद ने सन् ११५६ ई० में निशापुर में शरीर छोड़ा, साथ-साथ पुत्र के लिए एक बाग और एक जल का कारखाना भी। तदुपरान्त उन्हें—ख्वाजा साहिब को—उनकी वाल्दा बीवी महनूर ने पाला-पोसा। इसके बाद के उनके जीवन का पृष्ठ अज्ञात-सा है पर प्रचलित किंवदन्ति है कि वह कम ही

चारों ओर परिक्रमा कर रहे थे, जबकि उन्होंने स्वर्ग की एक वाणी—सुनी—जिसमें उन्हें मदीना जाने का आदेश था। वे तत्काल मदीना के लिये रवाना हो गए।

मदीने में हज़रत मुहम्मद ने उन्हें ख़्वाब में कहा—"ख़ुदा ने हिन्दुस्तान को तुम्हारे सुपुर्द किया है। वहाँ जाओ और अजमेर में अपना आसन जमाओ। ख़ुदा के फज़ल से तुम्हारे अनुगामियों के द्वारा उस मुल्क में इस्लाम फैलेगा।" ख़्वाजा साहिब आदेश पाकर हिन्दुस्तान चले आये तथा अजमेर में अपना अड्डा जमाया। दिल्ली के तख़्त पर उन दिनों पृथ्वीराज आसीन थे। उन्होंने ख़्वाजा साहिब के पथ में रोड़े अटकाने की चेष्टा की तथा उनके शाप के भाजन बने। मुसलमानों का कहना है कि उन्हीं के शाप के कारण इन्हें मुहम्मद ग़ौरी के हाथों मरना पड़ा, तथा उनकी दुआ से हिन्दुस्तान इस्लाम-धर्मियों के हाथ आया। सन् १२३५ ई० में १७० वर्ष की अवस्था में उन्होंने शरीर छोड़ा। आज इनके मज़ार का इस्लाम-संसार के प्रमुखतम तीर्थ-स्थानों में शुमार होता है।

ख़्वाजा साहिब के बाद चिश्त के तीन और पीरों ने हिन्दुस्तान में

उम्र में इब्राहीम नाम के किसी फ़क़ीर के प्रभाव में आये तथा अपनी सारी सम्पत्ति बेच उसकी कीमत ग़रीबों को बाँट दी और स्वयं फ़क़ीर बन गये। फिर बोखारा और समरकन्द की यात्रा की, और अन्त में हारून नामक एक गाँव में जा बैठे। वहीं रहते-रहते वह ख़्वाजा उस्मान हारूनी चिश्ती नामक एक सूफ़ी महात्मा के शिष्य हो गये। चिस्ती-सम्प्रदाय में शामिल हो ख़्वाजा मोहनुद्दीन चिश्ती नाम से विख्यात हुए। वहीं से मक्का और मदीने का सफ़र किया और अन्त में ५२ साल की उम्र में अजमेर पधारे, मुहम्मद ग़ोरी की फ़ौज के साथ-साथ अजमेर में ही उन्होंने समाधि ली। उनकी कब्र पर तब से सालाना जलसा होता है, मेले लगते हैं, दूर-दूर से लोग आते हैं, सिजदा करते हैं। कहते हैं, कोई जिस इरादे को जी में लेकर वहाँ जाता है उसकी अवश्य पूर्ति होती है। सदियों से यह धारणा लोगों में चली आ रही है। बादशाह अकबर ने भी पैदल ही आगरे से अजमेर की यात्रा की थी।

इस्लाम में संगीत को स्थान नहीं, पर ख़्वाजा साहिब की मज़ार पर हमेशा से बाजे-शहनाई आदि बजते हैं, तथा महफ़िलख़ाने में देश भर से तवायफ़ें आकर गाती हैं। इस्लाम के कट्टरपंथियों तथा सूफ़ियों के रीति-रिवाज में, यह एक बड़ा-सा अन्तर है, जिसका आरम्भ कब और क्यों हुआ, यह अज्ञात है।

इस्लाम का प्रचार किया तथा तरह-तरह के अलौकिक करिश्मे दिखलाये। इनमें सबसे अन्तिम निज़ामुद्दीन औलिया थे, जिनके मज़ार पर गत छः सौ वर्षों से लोग जाते और सिजदा करते हैं। दिल्ली के तख़्त पर उन दिनों ग़यासुद्दीन तुग़लक़ आसीन थे। दिल्ली से पाँच मील दूर वह एक नये शहर के निर्माण में संलग्न थे। एक नया क़िला और उसके भीतर एक संगमरमर तथा लाल पत्थर की कब्र अपने लिये बनवा रहे थे। चूँकि वे वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके थे, इच्छुक थे कि उन्हें शीघ्रातिशीघ्र तैयार कर लें। संयोग ऐसा कि उन्हीं दिनों निज़ामुद्दीन औलिया भी एक जलाशय के खुदवाने में लगे हुए थे। पर बादशाह की आज्ञा सर्वोपरि थी, अतः सभी मज़दूर शाही काम में जा जुटे। इधर पीर साहब भी बूढ़े हो चुके थे, मालूम नहीं किस दिन आँखें मूँद लें, अतएव उन्होंने बाज़ार से तेल खरीदवाया और मज़दूरों से रात में काम करवाना शुरू किया। दिन की थकावट तथा नैश-जागरण के कारण मज़दूरों की कार्य-शक्ति में ह्रास-सा हो चला। काम करते-करते बहुधा वे सो जाते या ऊँघने लगते। बादशाह को जब यह ख़बर मिली तो वे क्रोध से आगबबूला हो उठे, आज्ञा दी कि कोई भी दूकानदार पीर साहब को तेल न बेचे। पीर साहब ने यह ख़बर बड़े दुःख के साथ सुनी और भगवान् से कातर स्वरों में प्रार्थनाएँ करने लगे। कहते हैं, सन्ध्या होते ही जलाशय से एक अलौकिक प्रकाश बहिर्गत हुआ जिसकी ज्योति से खुदाई का कार्य पुनः पूर्ववत् चलने लगा। पर सुल्तान की आध्यात्मिक शक्ति भी कोई कम न थी, क्रोधावेश में आकर उन्होंने जल को शाप दे डाला जिसके फलस्वरूप पानी के भीतर से एक ऐसी आवाज़ आने लगी कि लोग उसे पीने से वंचित रहे। इधर निज़ामुद्दीन औलिया ने भी इसे दखकर दर्द-भरे दिल से अभिशाप दिया कि "तुग़लक़ाबाद गुर्जर लोगों का निवास-स्थान हो या जन-विहीन एक वीरान जगह!"

दोनों ही बातें सच हुई—पूर्वोक्त जलाशय के पानी में अन्ध-विश्वासी जनों का ख़याल है कि आज भी सड़े हुए अंडे की बू आती है तथा तुग़लक़ाबाद अधिक दिनों तक आबाद न रह सका। सुलतान तुग़लक़ के इन्तकाल के बाद ही उसके पुत्र ने जल की कमी के कारण इस शहर को त्याग दिया और आज इस उजड़े हुए स्थान में थोड़े से गुर्जर लोगों

के घरों के सिवाय और कुछ देखने को नहीं मिलता।

सूबा बंगाल बलबन के बाद से ही दिल्ली के आधिपत्य से स्वतंत्र हो चुका था, उसे पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से सुलतान ग़यासुद्दीन बंगाल की यात्रा पर गया। इधर उसके लड़के मुहम्मद ने पिता की गद्दी छीनने की सोची और पीर की मदद चाही। पीर ने कहा—"तुग़लक पुनः दिल्ली पर पाँव न रख पायँगे।" पर कुछ ही दिनों के बाद ख़बर पहुँची कि सुलतान विजयी होकर दिल्ली लौट रहे हैं। मुहम्मद घबराये हुए से पीर के पास पहुँचे और कहा कि "सुलतान दिल्ली लौट रहे हैं, रास्ते में हैं।" पीर ने तसवी (जप-माला) फेरते-फेरते कहा—"दिल्ली दूर अस्त", अर्थात् दिल्ली दूर है। सुलतान के और निकट आने की ख़बर आई। मुहम्मद ने पुनः जाकर यह संवाद पीर साहब को सुनाया और कहा कि कल वे यहाँ आ रहे हैं! अतः हम लोग आज ही कहीं भाग चलें। पीर फिर भी विचलित न हुए, बोले—"दिल्ली हनीज़-दूर अस्त"—दिल्ली अब भी दूर है। अन्ततः सुलतान आ ही पहुँचे, मुहम्मद ने अपने भाइयों के साथ जाकर नगर के बाहर ही उनका स्वागत किया तथा नदी के तट पर एक नव-निर्मित काष्ठ-मण्डप में उन्हें दावत दी। भोजनोत्तर मुहम्मद ने हाथियों के 'परेड'-प्रदर्शन के लिए सुलतान से अनुमति चाही तथा उनकी आज्ञा से तमाशा शुरू हुआ।

तुग़लक अपने छोटे बच्चे के—जिसे वह अत्यधिक प्यार करते थे तथा अपने संग बंगाल भी लेते गये थे—साथ मण्डप में विराजमान थे। बगल में एक शेख़ बैठे थे जिन्हें शाम होते देख शाहज़ादा मुहम्मद ने कहा—"शेख़! नमाज़ का वक़्त हो आया"—और वे दोनों बाहर निकल पड़े। इतने में ही सहसा ज़ोरों की एक आवाज़ सुनकर शेख़ लौटे तो सारे मण्डप को भूमिसात् पाया। एक विशालकाय गज की टक्कर से वह तास के घर की भाँति नीचे जा चुका था। सुलतान काठ की छतों के नीचे थे। मुहम्मद ने दिखाऊ व्याकुलता के साथ चिल्लाकर कहा, फौरन सफ़ाई के औज़ार, लाये जायँ। लोग दौड़े पर सामान जुटाने में फिर भी घंटों लग गये। अन्ततोगत्वा जब टूटे हुए काठों की सफ़ाई की गई तो सुलतान अपनी छाती से कनिष्ठ पुत्र को लगाये प्राणहीन दृष्टिगोचर हुए। दोनों ही काल-कवलित हो चुके थे। सुलतान दिल्ली न पहुँच पाये, पीर ने ठीक ही कहा

था "दिल्ली हनीज़ दूर ग्रस्त !"

बाद का दिल्ली का इतिहास एक उथल-पुथल का इतिहास है, ग्रापसी झगड़े, मारकाट, ख़ून-खराबी का। दिल्ली की ग्रवस्था ग्रत्यन्त ही शोचनीय एवं उपद्रवपूर्ण हो गई। जान-माल सभी ग्रनिश्चित ग्रवस्था को प्राप्त हो गये।

यही परिस्थिति थी जबकि तैमूरलंग तथा उसका झुण्ड टिड्डियों की भाँति फारस, मेसोपोटामिया तथा ग्रफ़ग़ानिस्तान होता हुग्रा पंजाब में ग्रा धमका ग्रौर फिर ख़ून की दरिया बहाता हुग्रा दिल्ली पर ग्रा छाया। कहते हैं दिल्ली पहुँचने तक उसके पास एक लाख हिन्दू कैदी थे जिन्हें यह सोचकर कि लड़ाई की गड़बड़ी में कहीं वे निकल न भागें ग्रौर दुश्मन का साथ दें, उसने मौत के घाट उतारे। ग्रपने स्मृति-ग्रन्थ में बड़े गर्व से ग्रपने एक विद्वान परामर्शदाता (सलाहकार) के सम्बन्ध में वह लिखता है कि उसने समस्त जीवन में कभी एक गौरैये तक का बध नहीं किया पर इस वक़्त मेरी ग्राज्ञा से स्वयं ग्रपने हाथों १५ बुतपरस्त हिन्दुग्रों के काम तमाम कर डाले।

सुल्तान महमूद आतंक से काँपता हुग्रा गुजरात की ग्रोर भाग निकला, उसकी फ़ौज ने मोर्चा लेना चाहा पर ग्रसफल रही। तैमूर ने वायदा किया कि वह शहर की पूरी तरह रक्षा करेगा ग्रौर एक ग्राम जलसे में बादशाह घोषित हुग्रा, पर ग्रपने वादे को वह फौरन ही भूल गया। दिल्ली की लूट-पाट शुरू हुई ग्रौर पाँच दिनों तक नगर की जो ग्रवस्था रही वह शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती है। ख़ून की नदी बहती रही ग्रौर सड़कों पर झुण्ड की झुण्ड लाशें पड़ी रहीं। ग्रन्त में लूट एवं संहार से सन्तोष पा तैमूर ग्रौर उसका जत्था समरकन्द की ग्रोर लौट चला। साथ-साथ हज़ारों नर-नारियों को ग्रपने दास-कार्यों के निमित्त लेता गया। कहते हैं उनके चले जाने के बाद दो महीनों तक दिल्ली में न तो कोई शासन रहा न वाशिन्दा।

सुलतान महमूद दो महीनों के बाद ग्रपनी उजड़ी हुई राजधानी को लौटा तथा दिल्ली ग्रौर कन्नौज में ग्रपने जीवन के शेष दिन बिताये। सन् १४१२ ई० में वह मरा ग्रौर उसके साथ ही तुग़लक वंश का भी

अन्त हो गया। दिल्ली, धन, यौवन, सौन्दर्य से रहित एक अति-साधारण नगरी के रूप में अवस्थित रही।

तत्पश्चात् कुछ दिनों तक सैय्यद और लोदी इन दो वंशों का राज्य रहा पर नाम-मात्र को ही। दिल्ली के प्राचीन साम्राज्य क्षेत्र को वे वापिस न ला सके। अन्त में सन् १५२६ ई० में बाबर ने--जो कि तैमूर की छठी पीढ़ी में था—इब्राहीम लोदी के शासन-काल में हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की तथा पानीपत में इब्राहीम लोदी को हराता एवं क़त्ल करता हुआ दिल्ली आ पहुँचा। और इस प्रकार दिल्ली से अफ़ग़ानों का शासन सदा के लिए विलीन हो गया।

बाबर ने हिन्दुस्तान में मुग़ल सल्तनत की नींव डाली। यह भी इतिहास की एक प्रबल विडम्बना है कि तैमूर यद्यपि मुग़ल जाति का न था, तुर्क था, फिर भी बाबर की स्थापित सल्तनत को इतिहास मुग़ल सल्तनत के नाम से पुकारता रहा। बाबर ने अपने स्मृति-ग्रन्थ में जहाँ कहीं भी मुग़लों का ज़िक्र किया है, बड़े ही निन्दनीय शब्दों में किया है। उसकी माँ ने मुग़ल-कुल में जन्म पाया था, तथा उन दिनों अफ़ग़ानों को छोड़कर बाकी सभी मुसलमानों को यहाँ मुग़ल कहा करते थे। सम्भव है इन्हीं कारणों से बाबर तथा उसके वंशज मुग़ल कहलाये। बाबर मुख्यत: आगरा को ही अपनी राजधानी मानता रहा और वहीं कालगत भी हुआ। उसके पुत्र हुमायूँ ने पुन: दिल्ली आने की सोची तथा पुराने क़िले को फिर से आबाद किया। पर सन् १५४० ई० में शेरशाह ने बिहार से आकर हुमायूँ के हाथों से दिल्ली छीन ली तथा अपनी सल्तनत क़ायम की। उजड़े हुए नगर का पुनर्निर्माण भी किया।

शेरशाह के वंशज अधिक दिनों तक दिल्ली में शासन न कर पाये। सन् १५५५ ई० में हुमायूँ ने पुन: दिल्ली पर कब्ज़ा किया लेकिन छ: महीने के भीतर ही अपने ग्रन्थागार की सीढ़ियों से गिरकर इस संसार से वह चलता बना। हुमायूँ के बाद चार बादशाह—अकबर, जहांगीर, शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब—प्रतापी हुए। इसमें सन्देह नहीं कि उनके शासन-काल में दिल्ली ने बड़ी तरक्की पाई, संसार के महान् नगरों में उसकी गणना होने लगी। एक इतिहासकार के शब्दों में—"Two hundred years ago Delhi

had been a great and imperial city for a century. It was the largest and most renowned city not only of India but of all the East, from Censtatinople to Canton."

पर फिर वह लिखता है—"Within fifty years its provinces vanished, its wealth was plunderd, its emperor was blinded, and city shrank to be a provincial capital of less than two hundred thousand people."

अर्थात् आज से दो सौ वर्ष पहले दिल्ली एक महान् एवं बड़े साम्राज्य की राजधानी थी और सौ वर्षों तक रही। यह भारतवर्ष की ही नहीं, वरन् पूर्व की कुस्तुन्तुनिया से लेकर कैंटन तक की, सबसे बड़ी और प्रसिद्ध नगरी थी। पर ५० वर्षों के भीतर ही अधीनस्थ प्रान्त अन्तर्हित हो गये, इसका धन अपहृत हो गया, इसके बादशाह अन्धे बना डाले गये तथा यह नगर एक छोटे-से सूबे की राजधानी मात्र रह गया जिसकी आबादी दो लाख से भी कम थी।' तभी तो मीर ने कहा—

"दिल्ली जो इक शहर था आलम में इन्तख़ाब,
रखते थे मुन्तख़ब ही जहाँ रोज़गार के;
उसको फ़लक ने लूट के वीरान कर दिया।"

किसी शायर के दिल की तरह यह .हर भी बारम्बार लूटा गया—

"दिल्ली की वीरानी का क्या मज़कूर है।
यह नगर सौ मरतबा लूटा गया॥"

दिल्ली की इस अधोगति की कहानी अतिशय करुणापूर्ण है। पाठक इसे आगामी परिच्छेद में पढ़ेंगे।

३

दिल्ली की वेदनाएँ

औरंगज़ेब की मृत्यु के उपरान्त ही मुग़ल साम्राज्य का टूटना आरम्भ हो गया । उसके बाद जो अधिकार की लड़ाइयाँ हुईं उनमें दिल्ली को बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़े, कठिन पीड़ाओं का मुकाबला करना पड़ा । ज़फ़र के शब्दों में बार-बार विधाता ने उसे—"झटके पर झटके दिये, सदमे पर सदमे लाखों" ।

औरंगजेब के पुत्र बहादुरशाह प्रथम ने बहुत हद तक अपने पुरखों की परम्परा निभायी । राजपूत, सिख, मराठे, जाट, सब लड़े और कामयाबी से लड़े, पर जीतकर भी सब के साथ मित्रता का व्यवहार किया । उदयपुर, जोधपुर दोनों राज्यों को स्वतन्त्रता दी, संभाजी के पुत्र साहूजी को बन्दी-गृह से मुक्त किया, फिर सिखों से भिड़े, पर अधिक सफलता न हासिल कर पाये कि प्राय: ७० साल की उम्र में लड़ाई के पड़ाव में ही इस संसार से वे चल बसे और फिर उसके बाद क्या हुआ, उसका वर्णन एक अंग्रेज इतिहासकार श्री Testing के शब्दों में सुनिये—

Great confusion immediately followed in the royal camp, and loud cries were heard on every side. The amirs and officials left the royal tents in darkness of the night and went off to join the young princes. Many persons of no party and followers of the camp, unmindful of what fate had in store for them, were greatly alarmed and went off to the city with their families. Ruffians and vagabonds began to lay their hands upon the goods of many. Several persons were to be seen seeking refuge in one little shop. Friends and relations were unable to answer the calls made upon them. Great disturbances arose in the armies of the princes and none of the great men had any hope of saving their lives. The soldiers loudly demanded their pay and allowances, and joining the unceremonious servants, they made use of foul and abusive language and laid their hands on everything they found. Fathers could do nothing to help their sons, nor sons for their fathers. Every man had enough to do in taking care of himself and the scenes were like the day of judgment.

अर्थात् बादशाह की छावनी में फौरन कुहराम मच गया। हर तरफ से ज़ोरों की आवाज़ आने लगी। नैश अंधकार में ही अमीर-उमरा तथा उच्च पदाधिकारी बादशाह का खीमा त्याग शाहज़ादों का साथ देने दौड़े। वे जो किसी दल में शामिल न थे, समझ न पाये कि उनकी किस्मत में क्या लिखा है, आतंक से भरे अपने परिवारों के साथ शहर की ओर चल पड़े। दुष्ट और हत्यारे सामान लूटने में संलग्न हो गये। छोटी-छोटी दूकानों में बहुतेरे शरण लेते हुए नज़र आये। मित्र और सम्बन्धी पुकार सुनने पर भी कुछ कर न पाते थे। शाहज़ादों की फ़ौजों में घोर अशान्ति फूट पड़ी, तथा श्रेष्ठ जन जीवन-रक्षा से निराश-से हो उठे। फ़ौज के सिपाही ज़ोर-ज़ोर से अपने वेतन माँगने तथा साधारण नौकरों के साथ होकर अपशब्दों का व्यवहार करने लगे—गालियाँ देने लगे और जो कुछ भी पाये उसे हथियाने लगे। पिता पुत्रों की रक्षा करने में असमर्थ थे, पुत्र पिता की। सभी आत्म-रक्षा में ही व्यस्त थे और इस दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो क़यामत के दिन आ गये हों।

प्राय: सारे देश में आगामी एक सदी तक यही हाल रहा, कम या अधिक, और बिचारी दिल्ली बारम्बार अशान्ति की चक्की में पिसती रही। बहादुरशाह के बाद से मुहम्मदशाह तक जितने भी बादशाह हुए, निकम्मे तथा ऐशोआराम में दिन बिताने वाले तथा राज-परिवार के सभी जन राजासन के लिए एक दूसरे से श्वान-रीति से लड़ते रहे। मुग़ल साम्राज्य की सीमा दिन-प्रतिदिन क्षीण होती गई तथा मुग़ल वंश के आधिपत्य का सूर्य अस्तगामी हो चला। उस वंश का जिसने अकबर तथा शाहजहाँ जैसे नर-रत्न पैदा किये, विनाश अब निकटप्राय था।

भारत के राजनीतिक व्योम-मंडल में उन दिनों दो नक्षत्र जाज्वल्यमान थे—अफ़गान उत्तर में, मराठे दक्षिण में। अफ़गानों के नेता अहमदशाह अब्दाली में वीरता थी, लड़ने की दक्षता एवं साधन भी, पर राजनीतिक एकता और संगठन की कमी थी। मराठों में बुद्धि और युद्ध-नैपुण्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे पर उनके पास पैसों की कमी से समुचित साधन न थे। वर्षों की लड़ाई के कारण उनकी आर्थिक अवस्था क्षीण हो चली थी और किसी भी युद्ध में अधिक दिनों तक लगा रहना उनके लिए असम्भव था। फलतः पानीपत के युद्ध-क्षेत्र में जब इन दोनों,

मराठों तथा अफ़ग़ानों, की मुठभेड़ हुई तथा मराठे हारे तो उस हार का नतीजा स्थायी रूप धारण न कर सका। कुछ वर्षों में ही अफ़ग़ानों को अपनी बुद्धि की कमी के कारण भारत छोड़ना पड़ा तथा मराठे पुनः अपनी आर्थिक दशा सुधार एवं यौद्धिक साधनों से सुसज्जित हो दिल्ली की ओर लौट आये। पर उनमें सबसे बड़ी कमी पारस्परिक एकता की थी जिस पर वे विजय न पा सके। माधोराव सिंधिया, तुकाजी होल्कर आदि पेशवा के सेनानी यद्यपि युद्ध-कौशल में पूरे दक्ष थे, मध्य भारत, मालवा आदि तक पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, फिर भी पारस्परिक ईर्ष्या एवं द्वेष के कारण वे तरक्की न कर पाये—मराठा साम्राज्य की नींव न डाल सके। उत्तर में सिख जिन्हें बहादुरशाह प्रथम तथा फर्रुख़शियर ने पहाड़ों में मार भगाया था—पुनः बाहर निकल आये और पंजाब में दल बाँध-बाँध कर विचरने तथा स्थानीय ज़मींदारों पर जो कि अधिकतर मुसलमान थे आघात पर आघात देने लगे और अन्त में मिल-जुलकर बारह संगठित दलों का निर्माण किया! अवध में नवाब शुजाउद्दौला की तूती बोल रही थी, आगे चलकर वह मुग़ल साम्राज्य के वज़ीर भी मुकर्रर हुए पर उसे बचा न पाये। दिल्ली के पूर्व, गंगा नदी तथा कुमायूँ के पहाड़ों के बीच, रोहिलखंड में जो कि किसी समय अवध का ही एक हिस्सा था पर जिसे नादिरशाह के भगाये हुए अफ़ग़ानों की रुहेला नामक एक जाति ने सन् १७४० में अपने अधिकार में कर लिया था, अफ़ग़ान अशान्ति एवं उपद्रव के कारण हो रहे थे। गरज़ यह कि दिल्ली की चारों ओर विभिन्न शक्तियों ने अपना आधिपत्य जमा रक्खा था। प्रायः २५० मील लम्बी तथा १०० मील चौड़ी भूमि के साथ वह उसी प्रकार स्थित थी जैसी कि दंत-पंक्तियों के बीच जिह्वा "जिमि दशनन महँ जीभ बिचारी"। यह क्षेत्र अब भी बादशाह के अधीन था पर नाममात्र को ही; कई सरदारों के बीच जिनकी ज़िम्मेवारी लड़ाई के समय लड़ने तथा शाही फ़ौज के लिए सेना प्रस्तुत करने की थी, बँटा हुआ था और वे किसी कदर कम दु:खदायी न थे। रैयतों में जाट ज़्यादा थे और वे सूरजमल नामक एक व्यक्ति के नेतृत्व में काफ़ी संगठित हो गये तथा अन्ततः सन् १७६४ ई० में दिल्ली तक आ पहुँचे।" उसे इनके हाथों भी लूट-पाट सहनी पड़ी। सूरजमल ने ही वर्तमान भरतपुर राज्य की नींव डाली। इस क्षेत्र के पच्छिमीय भाग में मुसलमान मियों

तथा हिन्दू गुर्जर उपजातियों की आबादी थी। ये जिप्सियों की तरह घुमक्कड़ थे तथा जब कभी शासन का हाथ कमज़ोर पाते लूट-पाट में लग जाते थे। उत्तर-पश्चिम के हिस्सों में सिखों के लुटेरे दल घूमा करते थे तथा अशान्ति फैला रहे थे। आगे चलकर इन्हीं दलों ने पटियाला आदि सिख राज्यों की स्थापना की। केन्द्रीय सरकार का कमज़ोर पड़ जाने का एक ज़बर्दस्त नतीजा यह था कि चारों ओर भय का साम्राज्य हो गया तथा दिल्ली के इर्द-गिर्द दूरों तक लुटेरों ने ऐसी परिस्थिति पैदा कर डाली कि दिन-दहाड़े डाके पड़ने लगे, किसी की जान या सम्पत्ति सुरक्षित नर ही। लोगों ने लूट के भय से खेती करनी छोड़ दी। अच्छी-अच्छी ज़मीनें ग़ैर-आबाद पड़ी रहने लगीं तथा सड़कों के आस-पास से हटकर उन्होंने अपने घर दूर-दूर बनाये ताकि लुटेरों की आँखों से बचे रहें। गाँवों की चारों ओर मिट्टी की ऊँची-ऊँची दीवारें उठ खड़ी हुई—जो आज भी दिल्ली के चर्तुदिक मीलों तक लक्षित हैं, या प्राचीन टूटे-फूटे सरायों और क़िलों के अन्दर जाकर वे बसे। बिना अस्त्र-शस्त्र के रास्तों से चलना अपनी जान को घोर संकट में डालना था। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" सोलहों आने चरितार्थ थी। वर्षा की कमी, सतत् लूटपाट, नहरों का अभाव आदि कारणों से कृषि-कार्यों तथा भूमि की उपज में उत्तरोत्तर कमी होती गई। दिल्ली शहर ही नहीं बल्कि आस-पास मीलों तक की भूमि उजाड़-सी हो चली। एक लम्बे अर्से तक यही स्थिति रही—और यदि दिल्ली के अड़ौस-पड़ौस की ज़मीनों को आप ध्यानपूर्वक देखेंगे तो इस स्थिति के अवशेष आज भी जहाँ-तहाँ देखने को मिलेंगे।

बादशाह के शासनाधीन केवल दिल्ली तथा आस-पास की जगहें रह गई जिनकी आय से उनके तथा राज-परिवारों के दूसरे जनों के काम किसी भाँति चलते रहे। उनके समक्ष, जो सबसे बड़े महत्त्व का प्रश्न था वह था पार्श्ववती राज-शक्तियों के सम्बन्ध का। ये शक्तियाँ काफ़ी शक्तिशाली थीं पर इसमें एक ज़बर्दस्त कमी थी और वह यह कि उनका शासन सुसंगठित न था। किन्तु ये सभी सिख, राजपूत, जाट, मराठे तथा रुहेले, काफ़ी वीर थे तथा युद्ध-क्षेत्रों में अपने अद्‌भुत नैपुण्य का परिचय देते थे। साथ ही ये सभी धन और शक्ति के प्रबल लोभी थे तथा सबों का एकमात्र उद्देश्य था——दिल्ली को अपने प्रभाव एवं नियंत्रण में लाना। इस उद्देश्य-

पूर्त्ति के लिए उनके बीच पारस्परिक संघर्ष चलता रहा। स्पष्ट है कि इस परिस्थिति में यदि बादशाह चाहते तो एक दूसरे को लड़ाकर अपनी सत्ता क़ायम ही नहीं रख सकते थे बल्कि बढ़ा भी सकते थे, पर तत्कालीन बादशाहों में न तो इस उद्देश्य-सिद्धि की योग्यता ही थी, न उनके पास योग्य व्यक्ति ही थे, फलतः इस काम को वे पूरा न कर पाये।

सर्वसाधारण में अब भी बादशाह के नाम का काफ़ी प्रभाव था। उनके ऊपर वह जादू का-सा असर डालता था यही कारण था कि माधवराव सिन्धिया तथा निज़ाम जैसे लोग भी अपने कामों पर बादशाह की स्वीकृति की मुहर लगवाते रहे। उदाहरणार्थ, सन् १८०३ ई० में जब निज़ाम गद्दी पर बैठे तो उन्होंने बादशाह की स्वीकृति की याचना की। मेजर ब्राउन ने तभी तो लिखा था—

"I take the Shah's(Shan Alam's) name to be of as much importance as an Act of Parliament in England if supported by as strong a force."

"मैं शाहआलम के नाम को उतना ही महत्त्व का मानता हूँ जितना कि पार्लियामैण्ट का कोई विधान।"

स्पष्ट है कि इस परिस्थिति में दिल्ली को बारम्बार लूट-पाट एवं रक्त-प्रवाह के दावानल में दग्ध होना पड़ा। शक्ति-हीन बादशाह, चतुर्दिक शक्तिशाली व्यक्तियों का दिल्ली पर अधिकार जमाने की चेष्टा, नादिर-शाह जैसे बाहरी आक्रमणकारियों की चढ़ाई—संक्षेप में तत्कालीन दिल्ली का यही इतिहास है। बहादुरशाह प्रथम के युद्ध-क्षेत्र में मरने की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उनके पौत्र फर्रुख़शियर की मृत्यु १७१६ में हुई और दिल्ली के तख़्त पर मुहम्मदशाह रंगीला बैठा। यह एक पुरुषार्थ-हीन व्यक्ति था तथा सारा वक़्त ऐशोआराम में बिताया करता था। इसके शासन-काल में ही सर्वप्रथम मराठों ने दिल्ली में प्रवेश पाया जबकि ताल-कटोरा में मुग़ल सेना के साथ उसकी घोर लड़ाई हुई। बादशाह की ओर से निज़ाम जो उसके प्रधान मंत्री थे और उसका सच्चे दिल से भला चाहते थे, बड़ी चेष्टाएँ करके भी कुल ३४ हज़ार ही सिपाही जुटा पाये। बाजीराव की जीत हुई। विवश होकर निज़ाम को उनके संग सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार नर्मदा तथा चम्बल नदियों के बीच का सारा इलाका

मालवा प्रान्त के साथ-साथ मराठों को देना पड़ा।

बादशाह के सलाहकारों में निज़ाम ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो उसका हित ही नहीं चाहते बल्कि इस योग्य थे कि इस टूटते हुए साम्राज्य के स्तम्भ बन सकें, पर धीरे-धीरे उनका दिल स्वयं ही टूटने लगा, कारण बादशाह का निकम्मापन तथा दरबार में शोहदों का बोलबाला था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बादशाह स्वयं विलासी था, राज्य-कार्यों में कोई दिलचस्पी नहीं रखता था, अपनी एक प्रेमिका के हाथों का ग़ुलाम था। वह अँगूठी जिस पर राज्य की मुहर अंकित थी, उसे दे रखी थी और वह जिस तरह भी चाहती वह उसका दुरुपयोग करती थी। वृद्ध निज़ाम आसफ़शाह के प्रति साधारण शिष्टाचार तक न दिखाती थी। जब कभी वे दरबार में आते उसके इशारों पर दरबार के लौड़े, जिनसे वह भरा था और जो बादशाह के दिन-रात के साथी हो रहे थे, कानाफूसी करने लगते; बादशाह से कहते—"हुज़ूर ! दकन के बन्दर किस तरह नाचते है, देखें।"

क्षुब्ध और अपमानित आसफ़शाह दिल्ली त्यागकर दकन चले और इधर दिल्ली के ऊपर मराठों से भी कहीं भयंकर आपदा आ पड़ी।

नादिरशाह जिसने फारस का तख़्त छीन ग़ज़नी, काबुल और कन्धार पर भी आधिपत्य जमाया था, सन् १७३८ ई० में सिन्धु पार कर हिन्दुस्तान में आ धमका। ख़बर दिल्ली पहुँची। बादशाह के सलाहकारों के बीच किस तरह उसका सामना करें इस सम्बन्ध में मतैक्य न हो सका। निज़ाम, शाही फ़ौज के सिपहसालार 'खाँ दौराँ' तथा अवध के राज्य-प्रतिनिधि सादतअली खाँ आपस में लड़ते रहे, बादशाह में यह ताकत नहीं थी कि वह उनके पारस्परिक कलह पर नियंत्रण कर सकें, इधर फारस की फ़ौज दिल्ली की ओर क्रमशः अग्रसर होती गई। पानीपत के आस-पास बादशाह की सेना जिसे आदत अली तथा 'खाँ दौराँ' ने सम्मिलित चेष्टा कर अतिशीघ्रता में एकत्रित की थी, के साथ मुठभेड़ हुई। वह बड़ी बहादुरी से लड़ी जिसकी नादिरशाह कभी उम्मीद भी न करता था। यहाँ तक कि नादिरशाह फारस लौटने तक को तैयार हो गया बशर्ते कि उसे युद्ध-व्यय की क्षति-पूर्ति के रूप में कुछ रुपये मिलें, किन्तु ठीक ऐसे ही समय में जबकि नादिरशाह वापिस होने के सोच-विचार में पड़ा

हुआ था, बादशाह एक प्रबल मूर्खता का काम कर बैठा, यानी पालकी पर चढ़ा हुआ स्वयं नादिरशाह से मिलने को उसकी छावनी में आ पहुँचा। नादिरशाह के हृदय में पुनः साहस जाग उठा। उसने बादशाह का खूब स्वागत किया, पर साथ ही घृणा-भरे शब्दों में बोल उठा—'काफिर हिन्दुओं को कर देकर इस्लाम की इज़्ज़त तुमने धूल में मिला दी और मुझ जैसा आक्रमणकारी तुम से लड़ने आया तो बजाये इसके कि कसकर लड़ें हार मान ली– पूरे कायर हो तुम !" पर मुहम्मद शाह इस अपमान का घूँट ज्यों-का-त्यों पी गया, जवाब देने तक का साहस न हुआ। नादिर को रुपये दिये, दरबार की सबसे निपुण सुन्दरी गायिका नूरबाई की भेट चढ़ायी, इस आशा में कि वह उन्हें लेकर करनाल से ही फारस को लौट जावेगा, पर नादिरशाह प्रबल धूर्त था और फिर बादशाह की कमज़ोरियों से पूरी तरह वाकिफ़ भी हो चुका था, उसने धीमे शब्दों में कहा—"जहांपनाह! हिन्दुस्तान आकर आपके घर न जाऊँ यह शिष्टता के विरुद्ध होगा। मैं आपके साथ दिल्ली चलूँगा।" मुहम्मदशाह के मुँह पर हवाइयाँ उड़ गई पर विवश था। नादिरशाह के प्रस्ताव को कैसे स्वीकार करे ? अनिच्छा होते हुए भी उसे दिल्ली लाना पड़ा। नादिरशाह ने क़िले में डेरा डाला तथा सुरक्षा का सारा प्रबन्ध अपने सिपाहियों के हाथ दिया। दीवाने-ख़ास में जहाँ कि अब भी शाहजहाँ की ये पंक्तियाँ अंकित हैं, नादिरशाह ने अड्डा जमाया—

स्वर्ग है यदि भूमि के तल पर कहीं,
तो यहीं है, तो यहीं है, तो यहीं।
(अगर फिरदौस बर रू-ए ज़मीं अस्त,
हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त।)

एक दिन सहसा दिल्ली के बाज़ारों में यह अफ़वाह उड़ी कि नादिरशाह बादशाह के हुक्म से मार डाला गया। लोग इस ख़बर से इतने उत्साहित हुए कि नादिरशाह के कुछ सिपाहियों को, जो बाज़ार की दूकानों पर आटा-दाल खरीद रहे थे, मार डाला। दो-चार ही होंगे, पर आधी रात के समय नादिरशाह के कुछ सिपाहियों ने जाकर उसे इत्तिला दी कि फ़ौज के करीब तीन हज़ार सैनिकों की दिल्ली वालों ने

१. अर्थात् मराठों।

हत्या कर दी। नादिरशाह यह ख़बर सुनते ही क्रोध से बावला हो उठा, आँखें लाल हो गईं और उसकी रक्त-पिपासा ने भयंकर रूप धारण कर लिया। आज्ञा दी—"दिल्ली के एक-एक नागरिक को तलवार की धार उतार दिया जाए।" फिर क्या था, उसके सैनिक दिल्ली वालों पर बाज की तरह टूट पड़े। आधी रात से आरम्भ कर पाँच बजे सुबह तक जो कोई भी मिला—स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी—कत्ल कर दिया गया। हर घर से ख़ून की धारा बह चली। चाँदनी चौक, दरीबा कलाँ, जामामस्जिद का अड़ौस-पड़ौस, सभी आग में जल उठे। उससे निकला हुआ धुआँ कोसों में फैल चला। ६ घंटों तक हत्याकाण्ड चलता रहा तथा झरोखे पर बैठा हुआ नादिरशाह उसे देखता रहा। सुबह होते ही मुहम्मदशाह डरा हुआ उसके पास आया और रोते हुए नागरिकों की ओर से क्षमा-याचना की। नादिरशाह की रक्त-पिपासा पूरी हो चुकी थी, उसने हत्या बन्द करने का हुक्म दिया। अपने सिपाहियों पर उसका ऐसा प्रभाव था कि क्षणों में ही बन्द हो गई। कहते हैं, दिल्ली के पूरे एक लाख नागरिक इस हत्याकाण्ड के शिकार हुए। एक अंग्रेज़ इतिहासकार के शब्दों में—

"For a long time the streets remained strewn with corpses, as the walk of a garden with dead flowers and leaves. The town was reduced to ashes and had the appearance of a plain consumed with fire."

अर्थात् बहुत दिनों तक सड़कों पर शव पड़े रहे, जैसे कि किसी पुष्प-वाटिका की बीथियों पर सूखी पत्तियाँ तथा फूल बिछे होते हैं। नगर भस्मीभूत हो चुका था, मानों आग से जला हुआ क्षेत्र हो कोई!

हत्या समाप्त हुई, पर दिल्ली के लोग अब भी चैन न पाये। प्रत्येक धनी-मानी व्यक्ति से रुपये, जवाहिरात, हाथी-घोड़े, जो कुछ भी मिल सके, वसूल किये गये, वह भी बड़ी बेरहमी के साथ। बहुतों ने अपमान और याचना से बचने को आत्म-हत्या की शरण ली। "शहर से नींद और आराम ग़ायब हो गये। हर घर से, हर परिवार से, यंत्रणा भरे-शब्द, दर्द भरी कराह, सुन पड़ती थी।"

बादशाह से नादिरशाह ने लाखों रुपये तथा प्रायः साढ़े तीन सौ वर्षों के संग्रहीत शाही ख़ज़ाने के जवाहिरात लिये और इनसे भी बढ़कर तख़्त ताऊस। फिर शाहज़ादी से अपने लड़के का विवाह किया और

हिन्दुस्तान से चलता बना, पर किले को उजाड़ कर गया।

१७४७ में नादिरशाह को उसके ही कुछ आदमियों ने, जबकि वह अपने खैमे में सो रहा था, मार डाला। उसके साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये। दक्षिणी हिस्सा अहमदशाह दुर्रानी नामक उसके एक अफ़ग़ान सामन्त के अधीन आया। उसने भी नादिर की तरह भारत पर आक्रमण किया और यद्यपि पहली बार मुग़ल सेना के द्वारा परास्त हुआ, बाक़ी आक्रमणों में सफल रहा। दिल्ली को उसने एक बार नहीं कई बार लूटा और उसे ··· दिल्ली शहर की·········नादिरशाह के आक्रमण के समय जिन विपत्तियों का सामना करना पड़ा था उन्हें पुनः बारम्बार भुगतना पड़ा। बाहरी चढ़ाई और घरेलू कलह ने वर्षों तक उसे चैन से न रहने दिया। अहमदशाह दुर्रानी के बाद मराठे आये और नगर को बार-बार लूटते रहे। छः महीनों तक गृह-कलह का शिकार बनी रही जबकि शायद ही कोई ऐसा दिन गया हो जब दिल्ली की सड़कों पर लड़ाइयाँ न हुई हों। सन् १७६० में आलमगीर द्वितीय की हत्या हुई और सारे शहर में अशान्ति छा गई। शाह आलम—जो कि इलाहाबाद में निर्वासित थे—ने आकर शासन की बागडोर सँभाली पर मराठों को परास्त न कर सके। सन् १७८८ ई० में मराठे शाही महल में आ घुसे और अपना अड्डा जमाया। बादशाह सिन्धिया के हाथों में कठपुतली बने रहे। फिर अंग्रेज़ आये। १४ मार्च, १८०३, को मराठों को हराया और बादशाह शाह आलम सानी के संरक्षक बन बैठे। अगले वर्ष यानी १८०४, में मराठों ने होल्कर के नेतृत्व में पुनः दिल्ली पर चढ़ाई की पर लार्ड लेक के द्वारा पराजित हुए, सफल न हो पाये। दिल्ली की रूप-रेखा में तब से एक महान् परिवर्तन हुआ तथा एक नये इतिहास के पृष्ठ खुले। क़िले के भीतर बादशाह का शासन रहा और बाहर—शहर तथा दिल्ली सूबे में—अंग्रेज़ों का। ५३ वर्षों तक यही सिलसिला चला, फिर आये '५७ के ग़दर के दिन। बादशाह बहादुरशाह द्वितीय बलवाइयों से जा मिले पर विधाता वाम थे, बलवायी अंग्रेज़ी ताकत के ख़िलाफ़ टिक न सके। तमाम मुल्क में उनकी हार हुई तथा दिल्ली को पुनः एक बार ख़ून-ख़राबी से गुज़रना पड़ा। अंग्रेज़ों ने शहर को लूटा ही नहीं, बादशाह को क़ैद कर उनके शाहज़ादों को कत्ल किया और उनके कटे हुए सर नगर के एक प्रमुख भाग

में टाँग दिये। मुग़ल जाति के दिल्ली में रहने वाले लोग अधिकांशतः मार डाले गये या भाग गये। यही कारण है कि आज दिल्ली में मुग़लानी ख़ून वाले ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते।

ग़दर के बाद बलवाई दिल्ली से भाग निकले। फिर भी अंग्रेज़ों ने न तो लूटपाट ही बन्द की न कत्लेआम ही। इसका वर्णन स्वयं एक अंग्रेज़ महिला श्रीमती सान्डर्स—जो दिल्ली के तत्कालीन कमिश्नर की धर्मपत्नी थीं—की ज़ुबानी सुनिये। एक ख़त में उन्होंने लिखा था—„सिपाही (अंग्रेज़ी सेना के) जिस किसी को भी पाते हैं मार डालते हैं।······ शहर का प्रत्येक घर जन-विहीन हो रहा है।······दिल्ली शहर, जिसकी परिधि ७ मीलों की है, के नगर-निवासी अन्न और आश्रय के बिना काल-कवलित होते जा रहे हैं।······गड़े हुए धन की आशा में दिल्ली के हर मकान को जो कि धनीमानी व्यक्तियों के निवास-स्थल थे, वे खोद रहे हैं।"

स्वयं बादशाह (बहादुरशाह) के सम्बन्ध में लॉरेन्स ने सन्डार्स को लिखा था—

"It is a great pity that the old rascal was not shot directly he was seen—I would not have taken him prisoner."

अर्थात् "खेद है कि वह बूढ़ा शैतान जैसे ही नज़र आया गोली का शिकार बनाकर मार डाला गया—मैं होता तो उसे क़ैद में न लेता अर्थात् गोली का शिकार ही बनाता।"

हफ़्तों तक शहर में आतंक का साम्राज्य छाया रहा। लोग घर छोड़-छोड़ कर भाग गये, भोजन और शरण-हीन होकर हज़ारों ने अपने प्राण दे डाले! सैनिक पागल कुत्तों की तरह नगर में विचरते तथा जिसे जहाँ पाते मार डालते थे। उनकी रक्त-पिपासा और धन-लिप्सा दोनों ही जागृत थीं। गड़े हुए धन के लोभ में सैकड़ों, हज़ारों, मकानों की सहनें उन्होंने खोद डालीं, सैकड़ों विशिष्ट नागरिकों को मौत के घाट उतार डाला। लाहौर से सर जॉन लॉरेन्स ने अपने एक ख़त में पूछा—

"Is private plundering still allowed? Do officers still go about shooting natives?"

—"व्यक्तिगत लूट-पाट को क्या अब भी इजाज़त प्राप्त है? और क्या अफ़सरान अब भी नेटिवों को गोली का शिकार बनाते फिरते हैं?"

हिन्दुस्तानियों के साथ किस तरह बदला लिया गया इसका पता सिर्फ़ इससे ज़ाहिर होगा कि चन्द दिनों के भीतर ही स्पेशल कमीशन ने, जिसका कम्पनी सरकार ने निर्माण किया था, ३९२ आदमियों को शूली पर चढ़ाया तथा २,०२५ को जेल की सज़ा दी !

दिल्ली के मशहूर मकानों—क़िले से लेकर जामा और फतहपुरी मस्जिदों तक—में फ़ौज के सिपाहियों का डेरा था। इसके कई हिस्सों को उन्होंने तोड़-फोड़कर भूमिसात् करने के यत्न किये पर पूरी तरह सफल न हो पाये। लाल क़िला फ़ौज का बड़ा अड्डा था। तय पाया कि इसके आस-पास के सभी मकान सुरक्षार्थ तोड़े डाले जायँ (कई सुन्दर मकान तथा मस्जिदें तोड़ी भी गईं) बल्कि सारे दरीबा कलाँ को भूमिसात् कर ज़मीन खाली कर देने का निर्णय हुआ, पर भाग्यवश यह निर्णय काम में न लाया जा सका। दिल्ली को किन्तु एक कड़ी अग्नि-परीक्षा से होकर गुजरना पड़ा।

बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र गोली के शिकार न हुए, परन्तु उन पर सर जॉन लॉरेन्स के आदेश से राजद्रोह का मुक़द्दमा चलाया गया। अदालत बैठी, २७ जनवरी से लेकर ९ मार्च १८५८ तक मुक़द्दमे की सुनवाई हुई, सैकड़ों गवाह गुजरे जिन्होंने अंग्रेज़ों के लगाये गये आरोपों का समर्थन किया और अन्त में उन्हें देश-निर्वासन की सज़ा मिली। बहुतेरे ऐसे लोग जिन्होंने उनके द्वारा परवरिश पाई थी भय एवं लोभ से उनके विरुद्ध साक्षी बने। यह एक ऐसी घूँट थी जिसे ज़फ़र आसानी से गले के नीचे न उतार सके। अपनी अन्तर्वेदना का कई स्थलों पर परिचय दिया है।

जैसे कि—

१. छोड़ कर यार हमें सब हुए चलते-फिरते,
अपनी महरूमी पै हम हाथ हैं मलते-फिरते।

२. आशना जितने हैं अपनी गरज़ के हैं आराना,
खूब देखा हमने अपना आशना कोई नहीं।

३. क्यों वादी-ए-वहशत में न खटका रहे मुझ को,
हर झाड़ है दुश्मन मेरा हर खार मुख़ालिफ।

४. हैं लोग दग़ाबाज़ हुए गिर्द हमारे,
महफ़ूज़ खुदा रक्खे 'ज़फ़र' इनकी दग़ा से।

५. हाय, कहिए किसे यहाँ अपना,
कौन अपना है और कहाँ अपना।
६. दोस्त अपने हुए 'ज़फ़र' दुश्मन,
इस मुसीबत को कौन पहचाने ?

प्रायः एक साल तक दिल्ली में बन्दी रहे, एक ऐसे मकान में जो गन्दगी से भरा हुआ काल-कोठरी के समान था। यहीं वह तथा बेग़म ज़ीनतमहल निवास करती रहीं। अंग्रेज़ नर-नारियाँ बहुधा उन्हें देखने जातीं तथा उन्हें चिढ़ाया करती थीं। लार्ड रार्बटस् ने, जो तब एक छोटे से फ़ौजी अफ़सर थे, लिखा है—"कई और लोगों के साथ मैं भी बहादुर-शाह को देखने गया। वृद्ध सम्राट् दुर्गति-भावापन्न नज़र आये और चूँकि देखने से ही ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी भी यूरोपियन का उनकी ओर गौर से देखना, उन्हें अत्यन्त अप्रिय था, मैं शीघ्र ही वहाँ से लौट आया।" १८५८ के अक्टूबर महीने में बादशाह, बेग़म ज़ीनतमहल, मिर्ज़ा जीवन बख़्श, उनकी पत्नी तथा राज्य-परिवार के अन्यान्य स्त्री-पुरुष बैलगाड़ियों से कलकत्ता के लिए फ़ौजी अफ़सर तथा सिपाहियों के पहरे में रवाना हुए। कलकत्ते से रंगून गये और वहीं इन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उनके साथ ही साथ दिल के अनेकों अरमान भी रंगून में ही दफ़न हुए। उनकी यह तमन्ना कि······

हम जो काबे जायँगे तो वां से होकर ऐ ज़फ़र,
फिर मदीने को, न ज़फ़र को, करबला को जायँगे।

भी न पूरी हो पाई, और न महरौली के बाग में वह अपनी कब्र ही बनवा सके। इधर दिल्ली में अंग्रेज़ों का दमन-चक्र चलता रहा, हज़ारों आदमी मौत के घाट उतारे गये। उनके ही सम्बन्ध में दिल्ली के एक तत्कालीन शायर 'नोबीन' ने लिखा था—

हुए दफ़न जो कि हैं बेकफ़न, उन्हें रोता अब्रे-बहार है,
कि फिरश्ते पढ़ते हैं फातेहा, न निशान है, न मज़ार है।

दिल्ली कुछ काल के लिए पुनः उजाड़-सी हो गई। उसके दुर्दिन पर आँसू गिरते हुए एक दूसरे शायर ने लिखा—

अजब कूचए रश्केजना[1] था, देहली का,
बेहिश्त कहते हैं जिसको मकां था देहली का—

× × ×

दिमाग़[2] बरसरे हफ्त आसमां था देहली का,

× × ×

ख़िताब ख़ित्तए[3]-हिन्दोस्तां था देहली का—
गजब है उसको कोई शोवमा न देख सका,
ज़मीं न देख सकी, आसमां न देख सका!

दिल्ली की आख़िरी लूट-पाट उन दिनों में हुई जब भारत स्वाधीन हुआ। जब उसका एक बड़ा-सा अंग पाकिस्तान बनाकर काट डाला गया। हिन्दुस्तान के मुसलमान भाई-भाई होकर भी नृशंस पशुओं की तरह लड़ पड़े तथा मुल्क की एक नहीं सैकड़ों जगहों पर ख़ून की नालियाँ बहाई गईं।

---

१. सुन्दरता की ईर्षा। २. सातवें आसमान पर। ३. हिन्दोस्तान का दिल।

४

दिल्ली की आहें

पता नहीं नादिरशाह की चोट से व्यथित दिल्ली पर किसी शायर ने आँसू गिराये या नहीं—उसकी उजड़ी हुई दशा पर अपने दिल की तड़प का किसी ने इज़हार किया या नहीं—पर सन् सत्तावन के ग़दर के बाद दिल्ली की जो अवस्था हुई, अंग्रेज़ों के द्वारा वह जिस प्रकार कुचली गई, इसका आँसुओं से भीगा हुआ, दुख से परिपूर्ण, वर्णन एक नहीं, उर्दू भाषा के दर्जनों शायरों ने किया और उनके अशारो का एक संग्रह 'फुगान-ए-देहली' के नाम से १८६३ में शाया हुआ जिसका संपादन मिर्ज़ा ग़ालिब के एक शागिर्द मोहम्मद तफज्जुल हुसैन 'को कब' ने किया था। इन नज़्मों में उन्होंने अपने दिल की आहें निकालकर रख दी हैं।

शाही दिल्ली का पतन स्पष्ट है कि ग़दर से काफ़ी पहले शुरू हो चुका हुआ था, अंग्रेज़ी सत्ता स्थापित हो चुकी थी, दिल्ली के लोग आज़ादी से धीरे-धीरे दूर होते जा रहे थे, चाटुकारो[1] की बन आई थी, शरीफो—सज्जन, गुणी, लोगों—की पूछ न थी, "चौकियाँ बदल गई थीं, थाना बदल चुका था।" स्वयं मुग़ल-वंश के अन्तिम बादशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने ग़दर के कई साल पहले इस स्थिति का इज़हार इन पुर-दर्द शब्दों में किया था—

१

क्या पूछते हो कजरवी-ए-चर्ख[2]-चम्बरी,
है इस सितम[3]-शोआर का सेवा[4] सितमगरी।
करता है ख़ार[5] तर[6] उन्हें जिसको है बरतरी[7],
उसके मिजाज में है ये क्या सिफ्ला-परवरी[8]॥

---

१. अंग्रेज़ों की ख़ुशामद करने वालो।

२. निर्यात की टेढ़ी चाल, बुराई। ३. प्रकृतितः अत्याचारी। ४. आदत, प्रकृति। ५. ज़लील। ६. ज़्यादा। ७. बड़ापा। ८. कमीनापन।

खावे है गोश्त जाग़[1] फ़कत उस्तख्वां[2] हुमा[3],
क्या मुंसफी है, जाग़ कहाँ और कहाँ हुमा !
बिलअक्स[4] हैं जमाने में जितने है कारबार,
सेवा किया है उल्टा जमाने में एख़तयार।
है मौसमे बहार खेजाँ और खेजाँ बहार,
आयी नजर अजब रवीशे बाग़े रोजगार।
जो नख्ले[5] पुर-समर[6] है उठा सकते हैं सर नहीं।
सरकश[7] हैं वे दरख्त कि जिनमें समर नहीं।
बादे सबा उड़ाती चमन में है सर पे खाक।
मलते हैं सरबसर[8] कफे अफ़सोस बरगे ताक[9]।
गुंचे हैं दिलगिरफ़्ता गुलों के जिगर है चाक,
करती हैं बुलबुले यही फरियादे दर्दनाक।
शादाब[10] हैफ़[11] खार हों, गुल पायमाल हों,
गुलशन हों खार-नख्ले[12]-मोगीलां निहाल हों;
नजदीक अपने आपको जो खींचते हैं दूर,
देखा तो साफ फ़हम[13] में उनके है कुछ कसूर।
वर्ना जो बासफा है खिरदमन्द[14] जी-शऊर[15],
क्या दख्ल उनको आये कभी नख्वतो[16] ग़रूर।
रखते ग़ोबारे कीना से वे सीना साफ़ हैं,
हर नेकोबद से सूरतें आईना साफ़ हैं।
जायें निकल फ़लक के आहाते से हम जहाँ,
होयेगा सर पे चर्ख भी जायेंगे हम कहाँ।
कोई बला है खानए-[17] जिन्दां यह आसमां,
छुटना महाल इससे है जब तक है तन में जां।
जो आ गया है इस महले तौरारंग[18] में,
क़ैदे-हयात[19] से है वो क़ैदे-[20]फिरंग में।

---

१. काग। २. हड्डी। ३. हुमा पक्षी जो केवल हड्डी खाता है। कहते हैं हुमा की शाया पड़ने पर आदमी बादशाह होता है या फकीर। ४. असार। ५. वृक्ष की डाल। ६. फूल से भरी हुई। ६. बदमाश, सर उठाये। ८. हथेली। ९. छोटी टहनियों की पत्ती। १० फला-फूला। ११. अफसोस। १२. काँटेदार दरख्त। १३. बुद्धि। १४. बुद्धिमान। १५. अक्लमन्द। १६. घमण्ड। १७. बन्दी-गृह। १८. इन्द्रजाल। १९. ज़िन्दगी। २०. विलासिता।

यह गुम्बदे फ़लक है अजब तरह का कफ़स,
ताक़त नहीं है नाला की भी जिसमें एक नफस[१]।
जुम्बिश[२] ही एक पर की तो पर टूट जायें दस,
रह जाये दिल की दिल में न किस तरह से हवस।
क्या तायरे[३] असीर[४] वह परवाज़[५] कर सके,
जिसमें न इतना दम हो कि आवाज़ कर सके।
क्या-क्या जहान में हुए शाहाने ज़ी करम[६],
किस-किस तरह से रखते थे साथ अपने वह हशम[७]
आखिर गये जहान से तनहा सूए-[८] अदम,
दारा कहाँ, कहाँ है सिकन्दर, कहाँ है जम[९] ?
कोई यहाँ रहा है न कोई यहाँ रहे,
कुछ ऐ 'ज़फ़र' रहे तो न कोई यहाँ रहे।

'ज़फ़र' की इन पंक्तियों में नैराश्यवाद की झलक साफ़-साफ़ परिलक्षित है। निस्सन्देह परिवर्तित समय ने ही उनके हृदय में यह भाव पैदा किया होगा।

अब देखिये मिर्ज़ा दाग़ किस तरह दिल्ली की पलटी हुई दशा पर आँसू गिराते हैं, उसके दुर्भाग्य का रोना रोते हैं, कहते हैं—

फलक ज़मीनो मलायक[१०] जनाब थी देहली,
बहिश्तो खुल्द में इन्तखाब थी देहली।
जवाब काहे को था, लाजवाब थी देहली,
मगर खयाल से देखा तो ख्वाब थी देहली।
पड़ी हैं आँखें वहाँ जो जगह थी नर्गिस की,
खबर नहीं कि इसे खा गई नज़र किस की !
यह शहर वह है कि हर इन्सोजान का दिल था,
यह शहर वह है कि हर क़द्रदान का दिल था।
यह शहर वह है कि हिन्दोस्तान का दिल था,
यह शहर वह है कि सारे जहान का दिल था।

---

१. जिसमें जान हो। २. हिलना। ३. पक्षी। ४. कैद। ५. उड़ना। ६. दयालु। ७. रोबदाब। ८. परलोक। ९. जरशेद। १०. देवदूत।

❀ नर्गिस का यहाँ दो अर्थों में व्यवहार है—१. एक प्रकार का फूल। २. तत्कालीन दिल्ली की एक इसी नाम की स्त्री जो उन दिनों सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी मानी जाती थी।

रही न आधी यहाँ संगो-खिश्त की सूरत,
बनी हुई थी जो सारी बहिश्त की सूरत।
यहाँ की शाम थी मानिन्दे सुबह नूरानी,
यहाँ के ज़र्रे में थी मेह की दरखशानी।
यहाँ के संग से तीरा था लाल रूम्मानी,
यहाँ के ख़ाक से होता था आईना पानी।
यह शहर वह है कि शाया भी नूर था इसका,
चिराग़ रश्के-तज्जला-ए[1] तूर था इसका।
फ़लक था ख़ूबी ओ हुस्नो जमाल का दुश्मन,
सबाहे इशरतो शामे बिसाल का दुश्मन।
अदू-ए अहल कमाल और कमाल का दुश्मन,
गरज़ कि अब तो हुआ जानो माल का दुश्मन।
यह मुफ्तबर जो तलाशी है नगदे जां के लिए,
ख़िज्र[2] भी रोयेंगे अब उम्रे जाबेदां के लिए।
खोदा परस्ती के बदले जफा परस्ती है,
जो माल-मस्त थे अब उनको फाकामस्ती है।
बजाय अब्रे करम मुफलिसी बरसती है,
बतंग जीने से हैं ऐसी तंग-दस्ती है।
गजब में आयी रईयत बला में शहर आया,
यह पूरबी नहीं आये, खोदा का क़हर आया!
रवा[3] न था किसी मजहब में जो वह काम किया,
गर्ज़ वह काम किया, काम ही तमाम किया।
फलक ने क़हरो-गजब ताक-ताक कर डाला,
तमाम परद-ए नामूस[4] चाक कर डाला।

× × ×

१. कहते हैं हज़रत मूसा एक बार जल की खोज में घूम रहे थे जबकि उन्होंने तूर पर्वत पर आग की रोशनी देखी, वहाँ गये, पर आग के स्थान पर एक ज्योति नज़र आई जो ईश्वर की ज्योति थी। उस ज्योति से ध्वनि निकली कि मैंने तेरा आज से वरण किया···आदि।

२. एक फ़रिश्ता जो खुदा को सब से प्यारा है। वह भी कहेंगे कि अब वह कहाँ रहें।

३. उचित। ४. इज्ज़त का पर्दा।

जली हैं धूप में शकलें जो माहताब की थीं,
खिंची हैं काँटों पर जो पत्तियाँ गुलाब की थीं।
अजीब शक्ले गुल-ओ-गुलिस्ताँ नजर आयी,
पड़ी जिधर को निगाहें खिजाँ नजर आयी।
जब उठके तामज़ ए खूँ[1] चर्का नजर आयी,
कोई ऐश की सूरत न याँ नजर आयी।
वह गुल रोखाने समनबर के कहकहे न रहे,
वह बुलबुलाँ खुश-अलहाँ के चहचहे न रहे।
ज़मीं के हाल पे अब आसमान रोता है!
हर एक फेराके मकीं[2] में मकान रोता है,
कि तिफ़लो औरतो पीरो जवान रोता है।
गरज़ यहाँ के लिए एक जहान रोता है।

× × ×

यह वह जगह है कि इबरत पे इबरत आती है,
यह वह जगह है कि शामत पे शामत आती है।
यह वह जगह है कि आफत पे आफत आती है,
यह वह जगह है कि हसरत पे हसरत आती है।
यह वह जगह है जहाँ बेकसी भी डर जाये,
यह वह जगह है अजल खौफ खाके मर जाये।[3]

दाग़, पर, ज़फ़र की तरह हतोत्साह नज़र नहीं आते, ईश्वर से प्रार्थना करते हैं,—

एलाही, फिर इसे आबादो-शाद[4] दिखला दे,
एलाही, फिर इसे हसबे-मुराद दिखला दे!

उजड़ी हुई दिल्ली पर सौदा ने जो नज़र डाली तो क्या देखा, यह उनके मार्मिक शब्दों में सुनिए—

बाग़े दिल्ली में जो एक रोज़ हुआ मेरा गुज़र,
न वह गुल ही नज़र आया, न वह गुलशन, न बहार।

---

१. हर जगह खून-खराबी। २. मकान के रहने वाले के वियोग में।
३. दाग़ की यह मर्सिया बड़ी पुरदर्द है। तभी तो इक़बाल ने लिखा था—
नालाकश सीराज़ का बुलबुल हुआ बग़दाद पर,
दाग़ रोया खून के आँसू जहानाबाद पर।
(जहानाबाद = दिल्ली का एक नाम।)
४. आबाद और प्रसन्न।

नख्ल पतझड़ हुए और सूखी पड़ी हैं शाखें,
ख़ाक उड़ती है हर इक तरफ पड़े हैं ख़सोख़ार[1]।
मुस्कुराता था जहाँ, गुञ्चा व गुल हँसता था,
अश्के शबनम के भी क़तरे का नहीं वाँ आसार !
जिस जगह जलवानुमाँ रहते थे सर्व-ओ-शमशाद[2],
मुश्ते पर क़ुमरी[3] के उस जा नजर आये यकबार।
देखता क्या हूँ मगर सूखी-सी यक शाख ऊपर,
अन्दलीब[4] एक है बे-बालो परो दिल-अफगार[5]।
ब-दमे सर्वो-बसद् हश्रतो सद सोजे जिगर,
देख कर सू-ए चमन कहती है बा-नाल-ए जार—
हैफ ! दर चश्मे जदन सोहबते यार आख़िर शुद्,
रूए गुल सैर न दीदम व बहार आख़िर शुद्।

शाही परिवार एवं दिल्ली के प्रतिष्ठित घराने के लोगों की दशा पर आँसू गिराते हुए मोहम्मद आजुर्दा नामक एक प्रसिद्ध शायर ने लिखा—

आफ़त इस शहर पे क़िला की बदौलत आयी,
वाँ के आमाल[6] से देहली की भी शामत आयी।
रोजे मौऊद[7] से पहले ही क़यामत आयी,
काले मेरठ से ये क्या आये कि आफत आयी।
ग़ोशजद[8] था जो फसानो से वह आँखों देखा,
जो सुना करते थे कानों से वह आँखों देखा।
जिसको दुनिया मे किसी से भी सरोकार न था,
अहलो ना-अहल से खिलता उन्हें जिनहार न था।
उनकी ख़िलवत से कोई वाक़िफ़े-असरार[9] न था,
आदमी क्या है, फरिश्ता का भी वाँ बार न था।

---

१. घास-फूस। २. एक वृक्ष का नाम। ३. एक पक्षी। ४ बुलबुल। ५. दिल पर चोट देने वाला। ६. काम। ७. निश्चित। ८. कर्णगोचर। ९. भीतरी बातों से भिज्ञ।

*दिल पर सैकड़ों चोट देने वाले तथा दुःखपूर्ण सर्व नामक वृक्ष का—जिसकी डालें बुलबुल को बहुत प्यारी हैं—दृश्य देखकर, अर्थात् उसे सूखा पाकर, एवं उपवन की ओर देखती हुई बुलबुल रो-रो कर कहती है—'अफ़सोस ! पलक मात्र में ही मित्र का साथ छूट गया ! फूल के चेहरे को जी भर देख भी न पायी थी कि बहार ख़त्म हो गई—बसंत समाप्त हो गया !'

वह गली-कूँचों में फिरते हैं परीशां दर-दर,
ख़ाक भी मिलती नहीं उनको कि डालें सर पर।
ज़ेवर अलमास का सब जिनसे न पहना जाता,
भारी झूमर भी कभी सर पर न रक्खा जाता।
गाच का जिनसे दोपट्टा न सँभाला जाता,
लाख हिकमत से ओढ़ाते तो न ओढ़ा जाता।
सर पे वो बोझ लिए चार तरफ फिरती हैं,
दो क़दम चलती हैं मुश्किल से तो फिर गिरती हैं।
तबा जो गहने से फूलों के अज़ीयत पातीं,
मेंहदी हाथों में लगा सोतीं तो क्या घबरातीं।
शाम से सुबह तलक नींद न उनको आती,
एक सिलोट भी बिछौने में अगर पड़ जाती।
उनको तकिया के भी काबिल न खुदा ने रक्खा,
संग पहलू से उठाया तो सिरहाने रक्खा।
जिनको बिन दोशे[1] परिस्तार ने चलते देखा,
सुबह से शाम तलक इत्र ही मलते देखा।
वह हैं और दश्त हैं और कोह हैं और नाले हैं,
क़दम उठता नहीं पाँवों में पड़े छाले हैं।

दाग़ की तरह आजुर्दा भी, पर, आशा से रहित, उम्मीद से खाली नहीं हैं, कहते हैं—

टुकड़े होता है जिगर सुनके यह उनकी फिरयाद,
फिर भी देखेंगे एलाही, कभी देहली आबाद!

दिल्ली के ही एक दूसरे मशहूर शायर मोहम्मद तक़ी खाँ सोजाँ ने लिखा—

हर एक घर में यह शोरो बोका[2] है दिल्ली का,
फोगाँ[3] के नामो निशाँ क्या मिटा है दिल्ली का।
अजीब हाल यह जिसने सुना है दिल्ली का,
दिले दो नीम है वह माजरा है दिल्ली का।
खता न कर वह जो पामाल इक जहाँ होवे,
हमारी आँखों से क्योंकर न खूँ रवाँ होवे।
खोदा ने अर्श से ता-फर्श जब किया पैदा,
ज़मीं पे रहने का इन्सां को जबकि हुक्म मिला।

---

१. कन्धा। २. आह। ३. अफ़सोस।

जो इन्तखाबे जहाँ था सो हिन्द में रक्खा,
रहे थे मिल के वहीं देखो आदमो-हव्वा[1]।
किसी का नाम रखा रूम[2] और किसी का शाम[3],
है उस मोकाम का हिन्दोस्तां जन्नत नाम।
जहानाबाद के जर्रे में थी जर अफशानी,
कुलाहे जर थी गदा की यह ज़र की अरजानी।
जो आता तीरा दिले संग यां बदखशानी[4],
जिला वह पाता यहीं होता लाले-रूम्मानी।
हर एक खूबी-ओ-हुस्नो जमाल इसमें था,
कमाले अहले कमाल और कमाल इसमें था।
बजाये ज़र यहाँ जौहर की थी फिराबानी[5],
न सब थे लालो-गोहर था जो तख़्ते-मरजानी।

× × ×

यह शहर वह था कि सब जामे जम इसे कहते,
समझ थी जिनको वे रश्के अरम इसे कहते।
यह शहर वह था कि बहरे-करम इसे कहते,
बजा था चश्मये फिरदौस हम इसे कहते।
इसी के लेने का शायक़ हर एक सरवर[6] था,
यह शहर वह था कि सर ताजे हफ्त किशवर था।
कसौटी कहते हैं जिसको वह शहर देहली था,
यहाँ के संग में पारस का था असर पैदा।
वतन को छोड़कर हर सिम्त से जो आते थे,
इसी जगह से सब इन्सान बन के जाते थे!
है जोशे गिरिया से यह हाल चश्मे सायल का,
जो क़तरा अश्क का टपके सो है लहू दिल का।

काज़ी फज़ल हुसैन खाँ कहते हैं—

हर तरफ से है बरसती बेकसी,
रातदिन का हो गया रोना हँसी।

---

१. Adam और Eve। कवि का कथन है कि स्वर्ग से आकर सर्वप्रथम उन्होंने हिन्दोस्तान में ही क़याम रक्खा। २. रोम। ३. सीरिया। ४. बदख़शान (फारस का एक शहर) का रहने वाला। यह शहर लाल के लिए मशहूर था। ५. बाहुल्य। ६. हुकूमत करने वाला।

है हुजूमे दर्दो-ग़म और बेबसी,
मौत को समझा हूँ अब मतलबरसी।

क्यों ? चूँकि बकौल एक दूसरे शायर के,

'तमाम शहर तिलंगों ने आ के लूट लिया।'

× × ×

कि उससे हो गये बदतर ग़रीब शाहंशाह,
रैय्यत उसकी हुई उससे भी ज्यादह तबाह।
मिला यह हुक्म कि सब लोग याँ से टल जायें,
इसी में खैर है जो शहर से निकल जायें।
न सर पर टोपी है उनके न पाँवों में जूती,
बग़ल में तोते का पिञ्जड़ा—नबीजी भेजो जी।

और इस तरह दिल्ली वाले शहर छोड़कर भागे !

मिर्ज़ा सालिक के शब्दों में—

किसी के लब पर है नाला, किसी का चश्म है तर,
किसी का चाक गरीबाँ है, और कोई मुज़तर ;
किसी का हाथ है दिल पर, कोई है थामे जिगर,
गरज़ कि रंज से खाली नहीं है कोई बशर।

× × ×

सरों पर बोझ है गठरी का लड़खड़ाते हैं,
बस अपने जी की तरह बैठ-बैठ जाते हैं।

जहीर—शागिर्दे ज़ौक़—के कथनानुसार—

हर एक रौनक़े बज़्मे जहान क़त्ल हुआ,
हर एक किबलए हर खानदान क़त्ल हुआ।
हर एक तूतिए शीरीं जबान क़त्ल हुआ,
हर एक बुलबुले नौशी बयान क़त्ल हुआ।
घरों से खींच के कुश्तों पे पुश्ते डाले हैं,
न गोर[1] है न कफ़न है न रोने वाले हैं !
यह कैसी आतिशे फितना लगा गये ज़ालिम,
जहाँ में एक क़यामत मचा गये ज़ालिम !

पर भागनेवाले जायँ भी तो कहाँ ?—

एलाही, भाग के याँ से कोई कहाँ जावे,
कोई नज़र में ठिकाना नहीं जहाँ जावे।

---

१. क़ब्र।

दिखाई देता है हर एक अदू-ए जां अपना,
बना है दुश्मने जानी यह आसमां अपना।
[मिर्ज़ा बाकर अली कामिल]

दिल्ली का चमन, बक़ौल इन शायरों के, उजड़ गया; हाफ़िज़ गुलाम दस्तगीर के शब्दों में—

× × ×

कि मिस्ले दीद-ए गिरियाँ है हर दरेखाना।
रुला रहा है फरिश्तों को भी यह अफसाना,
न वह है घर, न वह महफ़िल, न शमा, न परवाना।[1]

---

१. दिल्ली की उजड़ी हुई अवस्था का हाल पढ़कर सहसा रघुवंश के ये श्लोक स्मरण हो आते हैं जिनमें जनशून्य अयोध्या का वर्णन है—

"निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम्,
नदन्मुखोल्काविचिताभिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः।
वृक्षेशया यष्टिनिवासभंगान्मृदंगशब्दापगमालदलास्याः।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनर्बाहिणत्वम्।
स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः।
रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि,
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः।"

—निशाकाल में पहले जिन रास्तों पर चमकीले नूपुरों वाली अभिसारिकाएँ चला करती थीं, उन पर अब सियारिने बिचरती हैं जिनके मुख से चिल्लाते समय चिनगारियाँ बहिर्गत होती हैं—(अर्थात् स्वर्ण-नूपुरों के स्थान पर अब उनके मुख की चिनगारियाँ ही चमक पाती हैं।)

—अड्डों के भंग होजाने के कारण यहाँ के पालतू मोर अब दरख्तों पर जाकर बैठते हैं तथा मृदंग की अनुपस्थिति में नाचना बन्द कर रक्खा है। अब वे ऐसे लगते हैं मानो वनाग्नि से जले हुए पूँछ वाले मोर हों।

—विविध खम्भों में बनी हुई स्त्रियों की मूर्तियों के रंग उड़ गये हैं। चन्दन-वृक्ष की भाँति से लिपटे हुए साँपों की केंचुलें निकलकर इन मूर्तियों से सट गई हैं और वे उन स्त्रियों के स्तन ढकनेवाले कपड़ों के समान दीख पड़ती हैं।

—अटारियों के झरोखों से अब न तो रात में दीपक की किरणें निकलती हैं, न दिन में सुन्दरियों की मुख-छवि ही दृष्टिगोचर होती है, न अगरू का धूम ही निकलता है। ये झरोखे अब मकड़ियों के घने जालों से ढँक-से गये हैं।

हकीम मोहसिन इस परिस्थिति से घबड़ाकर कहते है--

मै दर्दे-दिल कहूँ किससे जाकर ऐ 'मोहसिन',
न कोई यार रहा न कोई अहले वतन।

× × ×

मिटा है सामने आँखों के मेरे यह गुलशन !

--इस प्रकार दिल्ली के प्रायः पचास कवियों ने शहर के अधःपतन पर--आई हुई विपत्तियों पर, फिरंगियों के जुल्मो-सितम पर—आँसू गिराये हैं। अपनी हृदय-पीड़ा का, तत्कालीन अवस्था का, सदय चित्र खीचा है। अपनी काव्य-प्रतिभा को भी, जहाँ-तहाँ, प्रदर्शित की है।

यह सही है कि ग़दर के बाद अंग्रेजों का उत्पीड़न एक ऐसी चोट थी जिसने दिल्ली के प्राचीन वैभव को मिट्टी में मिला दिया—दिल्ली-निवासियों के सर पर विपत्ति के काले बादल बरसों तक मँडराते रहे-- और न वह अयोध्या रही, न वह राम ! पर इसका वास्तविक कारण मुग़ल-सल्तनत का कमज़ोर पड़ जाना था जिसके भी एक नहीं, अनेकों कारण थे[1]। इन्हें आगे के परिच्छेदों में आप पढ़ेंगे।

---

१. विपत्ति-काल मे, कभी-कभी, मनुष्य अन्तर्मुख होकर अपनी कमज़ोरियों पर दृष्टिपात करता है—उनके सम्बन्ध मे विचारशील होता है। 'फगान-ए-देहली' के एक शायर ने शायद इसी अवस्था को प्राप्त होकर लिखा था—

"ज़ुल्म गोरों ने किया और न सितम कालों ने,
हम को बरबाद किया अपने ही आमालों ने।
बेसबब काहे को देती है यह गरदिश तक़दीर,
है सज़ावारे जफा याद है हर एक तकसीर।"

(आमाल =काम। तक़सीर=कुसूर।)
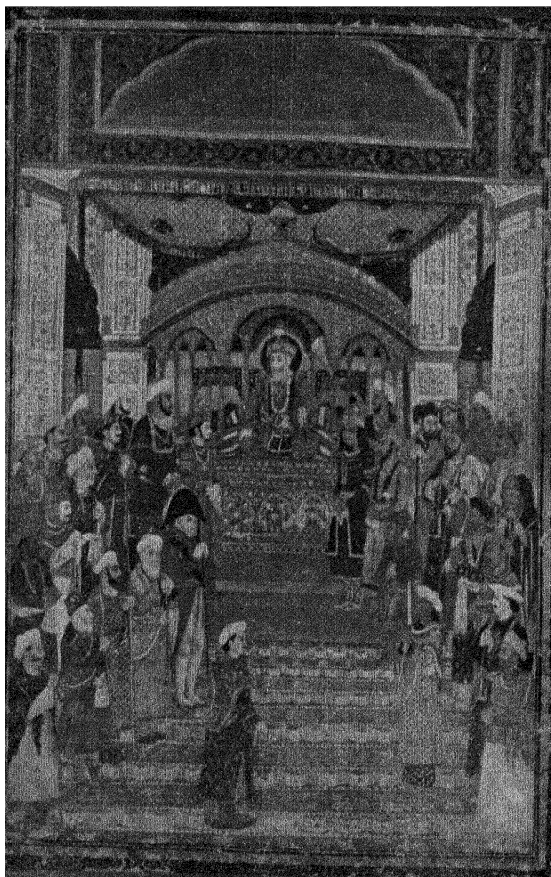
शाहआलम का दरबार अंग्रेज रेज़िडेन्ट नीचे खड़ा है ।

५

शाह आलम सानी

इस पुस्तक के पिछले पृष्ठों में नादिरशाह के आक्रमण तथा मराठों के युद्ध की चर्चा की गई है। ये दोनों ही ऐसी घटनाएँ थीं जिन्होंने मुग़ल साम्राज्य पर बड़ी ज़बर्दस्त चोट दी, फिर भी वह इन्हें सँभाल सका, किन्तु आपसी झगड़ों के सँभालने में वह असमर्थ रहा और इसमें सन्देह नहीं कि यदि वह इस गृह-कलह से बच पाता तो शायद पुनः शक्ति-संचय में समर्थ हो पाता। पर यह न हुआ तथा राज्य-प्राप्ति के लिए शाही वंश के लोग तो आपस में लड़ते ही रहे, वज़ारत के लिए भी अवध के सफदरजंग तथा इमादुल-मुल्क गाज़िउद्दीन नामक सामन्तों के बीच घोर संघर्ष हुआ, जिसने साम्राज्य को काफ़ी नुकसान पहुँचाया––उसकी नींव और भी ढीली कर दी।

सन् १७५९ में इमादुल-मुल्क ने बादशाह आलमगीर द्वितीय की हत्या कर डाली। आलमगीर उन बादशाहों में से थे जो लोकप्रिय न हो पाये। जीन लां ने उनके सम्बन्ध में लिखा था कि उनके सारे व्यवहार धोखेबाजी तथा निर्दयता से परिपूर्ण हैं। वह हर समय तसवी अपने हाथों में लिये होते हैं पर उनके भीतर धूर्तता भरी पड़ी है। प्रकृतितः उनके मरने का किसी को भी खेद न हुआ। उनके उत्तराधिकारी ने यह सोचकर कि कहीं वह भी हत्या के शिकार न हों, बिहार भाग गये और वहीं उन्होंने अपने को बादशाह घोषित किया। यही शाह आलम थे जिनका पूर्व का नाम मिर्ज़ा अब्दुल्ला था।[1]

---

१. बादशाह अबुल मुज़फ्फर अलाउद्दीन मोहम्मदशाह आलम सानी। आलमगीर के मरने पर कामबख्श का पौत्र शाहजहां तृतीय (रफ़ीउद्दौला) बादशाह घोषित हुआ पर यह एक साल तक ही गद्दी पर बैठ सका, क्योंकि इसके बाद ही पानीपत का तीसरा युद्ध (१७६१ में) हुआ जिसमें अहमदशाह अब्दाली विजयी हुआ और फिर भारत से लौटते समय अली गौहर (शाह आलम) को बादशाह मनोनीत करता गया।

शाह आलम, पर, दिल्ली की दलबन्दी के भय से तुरन्त दिल्ली न लौटे, बिहार और इलाहाबाद में दिन बिताते रहे।

अहमदशाह अब्दाली का अंतिम आक्रमण इसके बाद ही हुआ पर जब वह हिन्दुस्तान छोड़कर जाने लगा तो शाह आलम को बादशाह, इमादुल-मुल्क को वज़ीर तथा नजीब को मीर बख़्शी बनाता गया। पर यह आशा कि वे दोनों, वज़ीर तथा मीर बख़्शी, मिल-जुलकर काम करेंगे फलीभूत न हो पायी—दोनों बेतरह लड़ पड़े। इमादुल-मुल्क ने आलमगीर की हत्या करके अपने तथा शाह आलम के बीच एक दीवार खड़ी कर ली। नजीब खां ने इस परिस्थिति से लाभ उठाने की चेष्टा की। जबकि इमादुल-मुल्क मथुरा में भरतपुर के राजा सूरजमल की फ़ौज इकट्ठा कराने में लगा हुआ था, ताकि वह उनका अपने पक्ष में उपयोग कर सके, नजीब खां ने बादशाह की माँ और बेटे को अपनी ओर कर लिया तथा शाह आलम के बिहार में होते हुए भी, शाहज़ादे के साथ एक ही हाथी पर चढ़ा हुआ दिल्ली में आ प्रविष्ट हुआ। नजीब खां के मीर बख़्शी होने की घोषणा की गई, साथ-साथ दिल्ली सूबे का फ़ौजदार एवं शाही सल्तनत का मुख़्तार भी वही मुक़र्रर हुआ। शाह आलम ने भी बिहार से ही अपनी स्वीकृति भेज दी। नौ बरसों तक वह सर्वेसर्वा बना रहा, परिस्थितियों ने उसका साथ दिया; फिर भी, पंजाब के सिक्ख, भरतपुर के जाट तथा तूरानी मुसलमान सरदार जिनके रगों में मुग़लानी रक्त प्रवाहित था, उसके ख़िलाफ़ ही रहे, वह इन्हें अपने प्रभाव में न ला सका। १७७० के अक्टूबर महीने में वह संसार से चलता बना।

नजीब के बाद बरसों तक विविध सामन्तों के बीच द्वन्द्व-सा चलता रहा। प्रत्येक की चेष्टा यही रही कि वह बादशाह को अपने हाथों का पुतला बनाये और शासन करे। राजनीतिक शतरंज की बिसात के मौहरों में प्रायः दश अफ़ग़ान अथवा मुग़लानी सरदार तो थे ही, सिन्धिया और अंग्रेज़ भी थे। शाह आलम के सामने सबसे विकट प्रश्न इलाहाबाद से दिल्ली आने का था। वह इलाहाबाद में कई वर्षों से एक प्रकार से निर्वासन की-सी अवस्था में थे। दिल्ली लौटना ख़तरे से ख़ाली न था पर साथ ही यदि वह दिल्ली नहीं लौटते तो निश्चित था कि दिल्ली का तख़्त सदा के लिए उनके हाथों से निकल जाता। अतएव काफ़ी सोच-विचार के बाद उन्होंने सिन्धिया की मदद लेने का निर्णय किया तथा अपनी ओर से मराठों को दिल्ली पर कब्जा

करने का आदेश भी दिया। फलतः दिल्ली का अमन-चैन नष्ट न हुआ, वह सुरक्षित बनी रही। फिर मराठों के साथ उन्होंने एक समझौता किया जिसके अनुसार यह तह पाया कि बादशाह को मराठे इलाहाबाद से दिल्ली सुरक्षा के सभी प्रबन्धों के साथ ले आयेंगे तथा क़िले को चालीस में से दस लाख रुपयों के मिलते ही उनके प्रतिनिधि को सौंप देंगे। कोटा और इलाहाबाद के ज़िले उन्हें मिलेंगे, कई और सुविधायें भी। शाह आलम ने इन शर्तों को स्वीकार कर १७७२ को ६ जनवरी को दिल्ली में प्रवेश किया। १७७२ तथा १७८५ के बीच, जैसा कि पूर्वोल्लिखित है, विभिन्न सरदारों के बीच शक्ति-प्राप्ति के लिए घोर संघर्ष चलता रहा। पर दरअसल वास्तविक शक्ति सिन्धिया के हाथों रही, मुहम्मद बेग हमदानी, जहाँगीर खां आदि शक्तिशाली व्यक्तियों को उसने सफलतापूर्वक दबाया पर नजीबुद्दौला का पौत्र गुलाम क़ादिर जो कि रुहेलों का नेतृत्व कर रहा था तथा सारे सहारनपुर ज़िले पर जिसने अपना अधिकार जमा रक्खा था, अब भी उससे पराजित न हो पाया। सिक्ख, राजपूत तथा जाटों से भी उसकी मुठभेड़ होती रही। इसी बीच १७८७ में जयपुर के राजा के साथ लड़ते हुए सिन्धिया को एक ज़बर्दस्त हार खानी पड़ी। ग़ुलाम क़ादिर ने मौक़ा पाया, यकायक दिल्ली में आ धमका तथा इस्माइल बेग के साथ मिल गया। शाह आलम घिर-सा गया और अन्ततः गुलाम क़ादिर के द्वारा गद्दी से उतार डाला गया। गुलाम क़ादिर ने क़िले की सारी ज़मीनें दौलत की तलाश में खोद डालीं और जब धन की प्राप्ति न हुई तो क्रोध में आकर बादशाह की आँखें फोड़ डालीं—उन्हें अन्धा बना डाला। शाह आलम तथा शाही बेग़मों के साथ जिस निर्दयता से वह पेश आया इसका जोनाथन स्काट नामक एक अंग्रेज़ ने हास्टिंग्स के नाम लिखे गये एक पत्र में बड़ा ही करुणापूर्ण वर्णन किया है। वह लिखता है—

"I have a dreadful account of the unfortunate fate of Shah Alam and his family. The poor old king had his eyes put out, wanted common necessaries and was often beaten by the abominable Golaum Khadir who made the young princes sing for his amusement, calling them ATOMNY BATCHES and other vile names. The women of the Harem were stripped, beaten and numbers died from hunger. Several threw themselves over the Ramparts of the Palace and were drowned

in the Jumna. The floors of every apartment in the citadel were dug up, every article seized, even to the pots of the kitchens. The new King Bedar Shaw was not allowed a change of raiment and was obliged to beg for a rupee to buy a meal off Golaum Khadir who refused to see him, when His Majesty went on foot to beg an interview. The old Queens of Mohummad Shaw, Sahibe Nihal and Mallekeh Zummaneh, the latter the daughter of Ferokesere who had seen Dheley in its utmost splendour before the invasion of Nadir Shaw, were forced from their houses and confined in one of the Bastions with Khanauts only for shelter for some days. Their property was seized, and the floors even of their apartments dug up. Shaw Aulum was seven days without any food but coarse bread and water."

इस पत्र से यह साफ़ जाहिर है कि ग़ुलाम क़ादिर ने शाह आलम के नेत्र ही नहीं फोड़े, उन्हें पीटा भी। शाही महल की औरतों को नंगा किया, पीटा तथा उनमें से बहुतों ने यमुना में कूद-कूद कर अपने प्राण दे दिये। मुहम्मदशाह (बादशाह) की बेग़में अब तक जिन्दा थीं। उनके सारे जेवरात छीन लिये तथा उन्हें भी अपमानित किया। शाह आलम ने सात दिनों तक केवल सूखी रोटी और जल पर गुजर की।

मिर्ज़ा इस्माइल और क़ादिर की मैत्री अधिक दिनों तक न ठहर सकी। मराठों के साथ जब क़ादिर की मुठभेड़ हुई तो इस्माइल ने उसका साथ न दिया। मेरठ के समीप ३ मार्च १७८६ को क़ादिर मराठों के द्वारा पराजित ही न हुआ, उनके हाथों कत्ल भी हुआ, और इस प्रकार अपने दुष्कर्मों का समुचित दण्ड पाया।

प्रचलित नियम के अनुसार शाह आलम अन्धा होने पर बादशाह-पद के योग्य न रहे, पर तीन कारणों से राज्य-च्युत होने से बचे रहे। सर्व-प्रथम, तीस बरसों की बादशाहत जिसके कारण उन्हें एक ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी जो उनके हटाये जाने में जबर्दस्त बाधक थी। द्वितीय, वह क्रूरता, जिसके साथ उनकी आँखें नष्ट की गईं उनके प्रति अपार सहानुभूति का कारण हुई। तृतीय, योग्य एवं शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी का सर्वथा अभाव।

कुछ लोगों ने शाह आलम की जगह उनके शाहज़ादे अकबर के तख़्त पर बिठाने की बात चलाई पर न तो यह बादशाह को मंजूर हुआ, न अंग्रेज़ों को। सिन्धिया भी जो कि राज्य का सारा संचालन कर रहे थे, इस

प्रस्ताव के विरुद्ध थे। ७० साल की उमर हो चुकी थी, फिर भी बादशाह की तेज़ी में कोई फर्क न आया था, वह अब भी, उसी उत्साह और शक्ति के साथ कार्य-संचालन करते जैसा कि जवानी के दिनों में।

किन्तु वास्तविक शासन-कार्यों से उन्हें कोई वास्ता न रह गया था। सिन्धिया ने बादशाह के निजी व्यय के लिए छः लाख रुपये निश्चित कर दिये थे पर दरअसल उन्हें १७,००० रुपये प्रति मास ही पहुँच पाते थे, बाकी खज़ानों से सम्बन्धित लोगों की पाकिट में चले जाते। अंग्रेज़ उन्हें बंगाल-बिहार की दीवानी के उपलक्ष में साठ हज़ार रुपये प्रति मास देते थे।

गरज़ यह कि शाह आलम का जीवन यथार्थतः अब एक पेंशन-याफ़्ता का जीवन रह गया था। सिन्धिया उनके संरक्षक थे जिनकी फ़ौज दिल्ली बादशाहत की रक्षा कर रही थी, साथ ही साम्राज्य के अवशेष विभिन्न इलाकों की भी। सिन्धिया की सेना में उन दिनों कई फ्रांसीसी अफ़सर भी थे जिनमें De Boigne (दि बोआने[1]) सबसे प्रमुख था और इसमें सन्देह नहीं कि यह एक अद्भुत साहसी योद्धा था जिसने तत्कालीन घटनाओं में काफ़ी महत्त्वपूर्ण भाग बँटाया। दि बोआने तथा उसका वारिस पैरों—दोनों ही दिल्ली के तख्त के रक्षक थे और अंग्रेज़ों की आँखों के काँटें बन रहे थे।

सन् १८०३ में, जिसकी पिछले कई बरसों से आशंका थी, अंग्रेज़ तथा मराठों के बीच संघर्ष छिड़ पड़ा। शाह आलम के लिए यह एक विकट परिस्थिति का कारण हुआ। उनका सम्बन्ध दोनों के ही साथ था तथा दोनों के ही—नाम मात्र को ही क्यों न हों—वह अधिपति थे चूँकि अंग्रेज़ १७६५ में उनसे दिवानी हासिल कर बंगाल पर शासन कर रहे थे, इधर सिन्धिया उनके वकीले-मुतलक़ थे। दोनों से ही उपकृत थे वह। अंग्रेज़ों ने उन्हें सात वर्षों तक इलाहाबाद में सुरक्षित रखा था तो सिन्धिया ने उन्हें ग़ुलाम क़ादिर के मकड़जाल से छुड़ाकर दिल्ली की गद्दी पर पुनः बिठाया था जबकि कार्नवालिस ने साफ़ शब्दों में ग़ुलाम क़ादिर के विरुद्ध कुछ करने से इनकार कर दिया था। ऐसी परिस्थिति में शाह आलम के लिए किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना कठिन—अत्यन्त कठिन—हो उठा। मराठों से वह खिझे हुए थे, अंग्रेज़ उन्हें स्वामी स्वीकार करने को अब तैयार न थे। वारेन हेस्टिंग्स ने १७७३ में ही मुग़ल-अधिपत्य स्वीकार करने से

---

१. देखिए परिशिष्ट "काउण्ट दि बोआने"

इनकार कर दिया था, कार्नवालिस ने बादशाह के राजदूत को जिस विशिष्ट स्थान की उसने माँग की थी उसे देना। तात्पर्य यह कि अंग्रेज़ अब मुग़ल बादशाह के सामने प्रार्थी नहीं, शरणदाता के रूप में स्थित थे। लार्ड वेलेज़ली ने २७ जुलाई, १८०३, को अपने एक ख़त में शाह आलम को लिखा था—

"If your Majesty should be disposed to accept the Asylum which ...... I have directed the Commander-in-Chief to offer ..... Your Majesty may be assured that every demonstration of respect and every degree of attention which can contribute to the ease and comfort of Your Majesty and the Royal family will be manifested on the part of the British Government, and that adequate Provision will be made on the part of the British Government for the support of Your Majesty, your family and household."

—अर्थात्, यदि हुज़ूरेवाला हमारा आश्रय, जिसका हमने जंगी लाट को कहा है कि वह आप से प्रस्ताव करे, ग्रहण करेंगे तो हम विश्वास दिलाते हैं कि आपको वे सारे सम्मान और ध्यान ब्रिटिश सरकार की ओर से प्राप्य होंगे, जिनसे आपके तथा शाही परिवार के सबों के आराम और सुविधाओं की समुचित उपलब्धि होगी। साथ ही, ब्रिटिश सरकार की ओर से आपके तथा आपके कुटुम्ब परिवार के पालन-पोषण के लिए सभी आवश्यक प्रबन्ध किये जायँगे।

वेलेज़ली ने जंगी लाट लेक को यह भी आदेश दिया कि वह उनकी हर तरह से इज़्ज़त करे पर साथ ही उसके द्वारा यह सुझाव भी भेजा कि बादशाह तथा उनके भावी उत्तराधिकारी शाहज़ादा अकबर दिल्ली की जगह मुंगेर (बिहार) जाकर निवास करें। लेक किन्तु बादशाह के पास जाकर उनके प्रभाव में आ गये तथा वेलेज़ली जिस बात को बचाना चाहते थे वही कर बैठे यानी बजाय आश्रयदाता के एक रिआया की भाँति आचरण; बोले—"मैं इसे अपना अहोभाग्य मानूँगा कि मैं हुज़ूरेवाला के आज्ञा-पालन में समर्थ हो सका।" वेलेज़ली ने स्वभावतः इसे पसन्द न किया।

परिस्थितियों से विवश होकर अन्ततोगत्वा शाह आलम को अंग्रेज़ों का आश्रय लेना पड़ा। लेक को उन्होंने अपनी सबसे बड़ी ख़िल्लत प्रदान की तथा ख़ज़ाने के साढ़े पाँच लाख रुपये जिसे अंग्रेज़ बहैसियत

संरक्षक के (चूँकि बादशाह अब उनके शरणगत थे) ले लेना चाहते थे, यह कहकर कि इन्हें मैं बतौर युद्ध-सहाय्य के देता हूँ, उन्हें दे दिये। बादशाह इन कार्यों से अंग्रेजों पर अपनी सत्ता दिखाना चाहते हैं। वेलेज़ली को इसे समझने में देर न लगी। अतः जंगी लाट के इन रुपयों के स्वीकार कर लेने पर भी उसने इन्हें बादशाह के पास वापस भेज दिया। और इस तरह बादशाह की बुद्धिमत्ता ने इन रुपयों को बचा लिया।

अंग्रेज़ों ने दिल्ली शहर तथा सूबे में जो शासन-व्यवस्था स्थापित की उसके अनुसार सारी ताक़त अपने हाथों में ले ली पर दिखावट के लिए बादशाह के अधिकार-चिह्न विद्यमान रक्खे। उदाहरणार्थ, फाँसी की सज़ा तब तक कानूनी नहीं मानी गई जब तक कि उस पर बादशाह की स्वीकृति की मुहर न पड़ जाय।

क़िले के भीतर बादशाह का एकतंत्र शासन रहा। क़िला-बाज़ार के लोगों पर सिवा उनके किसी और का अधिकार न माना गया, शाही परिवार के लोग जो अन्दर बसते थे, तथा जिनकी संख्या कई सौ थी, अंग्रेज़ी क़ानून की सीमा से परे माने गये। दरबार के सारे क़ायदे-क़ानून पहले जैसे ही बने रहे, अंग्रेज़ रेसिडेन्ट दीवाने-खास-स्थित बादशाह के दरबार में बतौर एक प्रार्थी के हाज़िर होता रहा। औरों की तरह वह भी नक्कारखाने पर ही सवारी से उतरता तथा पाँव पैदल बादशाह के समक्ष उपस्थित होता और अदब के साथ खड़ा रहता था।

शाह आलम के खर्च के लिए जो रक़म मिली वह कम थी पर उसके द्वारा ही उन्हें अपना, अपने परिवार एवं सलातीनों-बन्धु-बान्धवों--जिनकी संख्या काफ़ी बड़ी थी, का व्यय वहन करना पड़ता था। किन्तु उनका जीवन बड़ी सादगी का जीवन था और उन्होंने इससे काम ही नहीं चलाया बल्कि इसमें से मरने तक प्रायः ५ लाख रुपयों की बचत भी की।

इस भाँति जीवन-यापन करते हुए बादशाह शाह आलम ने अपनी वृद्धावस्था के दिन गुजारे तथा १६ नवम्बर, १८०६ को वहाँ के लिए प्रस्थान किया जहाँ जाकर आज तक कोई लौटा नहीं—यद्गत्वा न निर्वतन्ते। अर्थात्, परलोकगत हुए।

शाह आलम ने अपने जीवन में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ देखीं, अनेकों में हिस्सा भी बँटाया। अत्युक्ति नहीं होगी यदि कहा जाय कि उनका

अफ़ीम के उपयोग की भी एक परम्परा-सी रही है।

अनिर्णय (Indecision) का आरोप भी किन्हीं इतिहासकारों ने शाह आलम पर लगाया है पर जिस राजनीतिक दाँव-पेंच के वह शिकार हो रहे थे उसमें ऐसा होना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सच पूछा जाय तो जिन विविध कठिनाइयों तथा आर्थिक दुरावस्थाओं के बीच से उन्हें गुजरना पड़ा वे किसी भी मनुष्य की मानसिक अवस्था को असाधारण बना सकती थीं। शाह आलम ने बावजूद इन परिस्थितियों के भी जिस बड़प्पन और प्रतिष्ठा के साथ अपने को निबाहा वे प्रशंसनीय ही नहीं, अत्यन्त स्तुत्य हैं। जवानी के दिनों में उन्होंने अद्‌भुत कार्य-कौशल, वीरता एवं बुद्धि-नैपुण्य का परिचय दिया था, वह उन लोगों में थे जो कि ज़ौक़ के शब्दों में कह सकते थे कि—

किस्मत से ही लाचार हूँ ऐ ज़ौक वगर्ना,
हर फ़न में हूँ मैं ताक़ मुझे क्या नहीं आता।

जीन लॉ नामक एक अंग्रेज़--जिसने बिहार में उन्हें पूरी तरह जाना था—उनके सम्बन्ध में लिखता है—

"शाहज़ादा (तब तक वह तख़्तनशीन नहीं हुए थे) उन लोगों में हैं जो पूरी तरह शिक्षित ही नहीं हैं बल्कि शिक्षा से पूरा लाभ भी उठाया है। उनकी शिक्षा धर्म, पूर्वदेशीय भाषाओं तथा इतिहास में, विशेष रूप से हुई है।············अरबी, फ़ारसी, तुर्की और भारतीय भाषाओं का उन्हें पूरा ज्ञान है। अध्ययन से उन्हें प्रेम है, ऐसा एक भी दिन नहीं जाता जबकि वह कुछ घंटे इसमें नहीं बिताते।············स्वभाव के वह जिज्ञासु हैं, अन्तरंगों की गोष्ठी में खुले-दिल तथा ख़ुशमिजाज़ हैं, जहाँ कि वह अपने विश्वसनीय फ़ौजी सेनाध्यक्षों को भी बहुधा शामिल करते हैं।"

जिस किसी ने भी शाह आलम को नज़दीक से जाना वह उनका प्रशंसक हुए बिना न रह सका। क़ादिर ने जब उनकी आँखें फोड़ डालीं तो जोनाथन स्काट ने बड़े दर्द-भरे शब्दों में वारेन हेस्टिंग्स को इसके सम्बन्ध में लिखा था।

शाह आलम के लिए, गोकि उनकी राज्य-शक्ति अब न के बराबर ही रह गई थी, सबके दिल में सम्मान के भाव थे तथा अंग्रेज़ रेज़िडेन्ट भी औरों की तरह ही सम्मानसूचक भाव से उनके समक्ष खड़े होते रहे।

आक्टर लोनी, सेटन और मेटकॉफ़, तीनों ने इस रीति को निबाहा। बादशाह के जीवन-काल में पुराने सारे रस्मो-रिवाज पूर्ववत् ही मनाये जाते रहे। जो कुछ परिवर्तन हुए, उनकी मृत्यु के बाद ही।

मुग़ल बादशाह शुरू से ही कला और साहित्य के प्रतिपोषक रहे, इन्हें ख़ूब तरक्की दी, कई तो स्वयं भी निपुण कलाविद् एवं साहित्यसेवी थे। शाह आलम ने इस परम्परा को निभाया ही नहीं, बड़ी अच्छी तरह निभाया। काव्य और संगीत दोनों में दख़ल रखते थे। प्रसिद्ध संगीतज्ञ उस्ताद नज़र अली के शागिर्द थे।

जीवन में सादगी रखी, धर्मप्राण थे, सूफी संतों के पास बहुधा जाया करते और उनको सिज्दा करते थे। ख़्वाजा मीर दर्द के घर पर प्रतिमास सूफ़ियों का जलसा हुआ करता था, बादशाह हमेशा उस जलसे में शामिल होते।

तात्पर्य यह कि उनका जीवन निन्दनीय नहीं बल्कि प्रशंसनीय—स्तुत्य—था और साथ ही सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी।

६

शाह आलम और उनका काव्य

बहुत दिन हुए जब संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की सरकार ने नागरी लिपि को अदालती कामों के लिए स्वीकार किया तो उर्दू वाले बिगड़ उठे, हिन्दी तथा नागरीके विरुद्ध उर्दू अख़बारों में लेख निकाले, व्यंगात्मक कविताएँ शाया कीं, एक तहलका-सा मचा डाला। उत्तर में स्वर्गीय श्री बालमुकुन्द गुप्त ने भी जो उन दिनों 'भारतमित्र' का सम्पादन कर रहे थे, लेख और कविताएँ लिखीं। उन्हीं की एक कविता में उर्दू भाषा के प्रति ये पंक्तियाँ लिखी थीं--

> "जना था तुझे मा ने बाज़ार में,
> पली शाह आलम के दरबार में।"

गरज़ यह कि उर्दू भाषा बरसों तक केवल बाज़ारू भाषा रही। वह भाषा जो कि देश की साधारण जनता बोला करती थी, उसे न तो बादशाह के दरबार में और न अदालतों में अब तक स्थान मिल सका था—सभी जगह फारसी का ही बोलबाला था—गो कि उर्दू का जन्म शाह आलम के शासन-काल से सैंकड़ों वर्ष पहले हो चुका था। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भाषा के पण्डितों के विभिन्न विचार हैं पर यह सर्वमान्य है कि इसका उद्भव १३वीं किंवा १४वीं शताब्दी में हुआ। क्यों और कैसे, ये विस्तार की बातें हैं, पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच, ख़ासकर देश की आम और अपढ़ जनता के विचार-विनिमय, बात-चीत के लिए एक सार्वलौकिक भाषा की आवश्यकता ही इसकी जननी थी। संस्कृत, फ़ारसी तथा प्रान्तीय भाषाओं, वे जो कि ब्रज, अवध और हरियाना प्रान्तों में बोली जाती थीं, के मिश्रण से इसका सृजन हुआ। धीरे-धीरे शिक्षित समाज में भी यह बोली जाने लगी। प्रसिद्ध व्यक्तियों में अमीर खुसरो तथा गेसूदराज़ ने, जो कि दिल्ली के मशहूर सूफ़ी फ़क़ीर निज़ामुद्दीन औलिया के उत्तराधिकारी ख्वाजा नसीरुद्दीन चिराग़ देहली के मुख्य शिष्य थे, सर्वप्रथम इसका व्यवहार किया। उस समय तक

यह उर्दू नहीं, 'हिन्दी' या 'हिन्दुई' कही जाती थी अर्थात् 'ज़बाने-हिन्द'। अमीर ख़ुसरो अपनी एक रचना में लिखते हैं—

"चु मन तूति-ए हिन्दम्, अर रास्त पुर्सो,
जे मन हिन्दुई पुर्स, ता नाज़ गोयम।"

अर्थात्, मैं भारतवर्ष की तूती हूँ, यदि मुझ से कुछ पूछने की ख़्वाहिश हो तो 'हिन्दुई' में पूछ ताकि मैं तुझे कुछ अपूर्व बातें बता सकूँ।

'हिन्दुई' ही आगे चलकर 'हिन्दी' और 'उर्दू' नाम से व्यवहृत हुई, लिखित लिपियों के अनुसार। ख़ुसरो की भाषा के दो उदाहरण देखिए—

"गोरी सोवै सेज पर, औ' मुख पर डारे केस।
चल ख़ुसरो घर आपने, रैन भई सब देस।"

× × ×

"जे हाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल, दुराए नैना, बनाए बतियाँ,
कि ताबे हिजरां न दारम ऐ जाँ, न लैहो काहे लगाए छतियाँ।"

जैसा कि अमीर ख़ुसरो की उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है, इस भाषा के शुरू से ही दो रूप हुए—एक फ़ारसी के शब्दों से लदा हुआ, दूसरा बोलचाल की—प्रान्तीय, ग्रामीण—भाषा के। ख़ुसरो के कई सौ वर्षों बाद वली (प्रसिद्ध शायर, दकन तथा दिल्ली में जिनकी प्रतिभा मुखरित हुई, मृत्यु १७०७ में) ने भी इन दोनों ही रूपों को अपनाया। इनकी दो रचनाओं को देखें—

"सजन तुम मुख सेती खोलो नक़ाब, आहिस्ता-आहिस्ता,
कि ज्यों गुल से निकलता है गुलाब, आहिस्ता-आहिस्ता,

× × ×

"हुस्न का मसनद-नशीं[1] वह दिलबरे[2]-मुमताज़[3] है,
दिलबरों का हुस्न जिस मसनद का पाअन्दाज़[4] है।"

इस तरह उर्दू अपने दोनों रूपों में शिक्षित एवं शिष्ट समाज में उत्तरोत्तर स्थान पाती गई। दक्षिण—बीजापुर, गोलकुंडा आदि—तथा दिल्ली में इसके पाँव जमने लगे। मुहम्मदशाह के राज्य-काल में इसने काफ़ी इज़्ज़त, प्रतिष्ठा, हासिल की पर इसका वास्तविक उत्कर्ष और राज्य-प्रवेश शाह आलम के समय में हुआ। शाही दरबार और अमीर-उमरावों

१. गद्दी पर बैठने वाला। २. प्रेमिका। ३. श्रेष्ठ। ४. पाँवों के पोंछने की जगह।

के बीच इसने स्थान पाया। फ़ारसी की जगह इसका व्यवहार साहित्य में बेधड़क होने लगा। स्वयं बादशाह ने उर्दू भाषा में कलाम लिखे और इसे परिमार्जित बनाया। तभी तो श्री बालमुकुन्द गुप्त ने शाह आलम के दरबार में इसके पाले जाने की ओर संकेत किया था। १८२३-२४ में इसका प्रवेश अदालतों में भी हुआ, अर्थात् यह अदालती जुबान मानी गई।

निस्सन्देह उर्दू को सांस्कृतिक भाषा बनाने तथा प्रतिष्ठा का स्थान प्रदान करने का श्रेय बादशाह शाह आलम को है। उन्होंने स्वयं भी उर्दू में रचनाएँ कीं, गद्य एवं पद्य दोनों में ही इसका उपयोग किया। तुर्की, फ़ारसी, हिन्दी, उर्दू और पंजाबी सभी भाषाओं में लिखी हुई उनकी रचनाएँ पाई जाती हैं। संस्कृत भी जानते थे। कई वर्ष हुए रामपुर के कुतुबखानाए-आलिया में 'नादिराति शाही' नामक एक पुस्तक की हस्तलिखित प्रति मिली जिसमें शाह आलम की फ़ारसी, उर्दू और हिन्दी की रचनाएँ संगृहीत हैं। गहरे बादामी रंग के कश्मीरी कागज़ पर देवनागरी और नस्तालीक फ़ारसी-अक्षरों में कलाम लिखे हैं। पहले नागरी में, फिर नस्तालीक में। दो बातों से यह साफ़ परिलक्षित है कि बादशाह हिन्दी को उर्दू से ऊँचा स्थान देते थे, प्रथम तो नागरी अक्षरों में पहले और फ़ारसी लिपि में पीछे लिखा जाना; द्वितीय, पुस्तक का हिन्दी, यानी उर्दू वालों की दृष्टि से उलटे ढंग—हाथ—से शुरू होना। मुग़ल बादशाह भारतीय रस्मोरिवाज ही नहीं, भाषा को भी कितना महत्त्व देते थे यह इसका परिचायक है। औरंगज़ेब तक जिसकी धार्मिक कट्टरता सीमा को पार कर चुकी थी, भारतीय भाषा के शब्दों का पूरी तरह व्यवहार किया करता था। कहते हैं, एक बार किसी राजा ने उसके पास कई प्रकार के पके हुए आम भेंट के रूप में भेजे। इनमें दो किस्म के बहुत ही मीठे, स्वादिष्ट, थे। बादशाह ने फौरन अपनी ओर से उनके नाम रख डाले; एक का 'सिद्धरस' और दूसरे का 'रसनाविलास'। ये दोनों ही संस्कृत के शब्द हैं।

ऊपर जिस पुस्तक का उल्लेख है वह १ ½ × ७¾ ..इज़ की है और इस पर लिखी हुई तारीख़ से ज़ाहिर होता है कि सन् १७८७ ई० में बादशाह के हुक्म से तैयार की गई थी। इसके आरम्भ में ४७ गज़लें रेख़ता (पद्य में व्यवहृत-उर्दू का प्राचीन नाम) में हैं, उसके बाद के अध्यायों का क्रम इस प्रकार है—

२६ सीठने, २७ पीरों की स्तुतियाँ, १२५ मुबारक बादे (जशने नौरोज़ वग़ैरह के), ७ ग़ज़ल व बैते फ़ारसी, ६० होली, कवित्त, दोहे इत्यादि, २० मिहृदीए ग़ौस-उल-अजम, २७८ नायिका-भेद-सम्बन्धी कवित्त और दोहे और अन्त में १६ तराने।

कविताएँ अधिकतर हिन्दी भाषा में लिखी हुई हैं, मिहृदीए ग़ौस-उल-अजम तक, कुछ उर्दू और फ़ारसी में। इनमें से कुछ इस लेख के अन्त में बतौर नमूने के दिये जा रहे हैं।

इन रचनाओं से शाह आलम के काव्य-गुण का पता चलता है। जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, वह कई भाषाओं के विद्वान् थे और उनमें शायरी भी करते थे। शायरी उनके ख़ून में थी चूँकि बिहार रिसर्च सुसाइटी, पटना, के पास एक फ़ारसी का दिवान है जिसके प्रणेता उनके वालिद बादशाह आलमगीर सानी बताये जाते हैं। यह प्रति सर्वप्रथम प्यारेलाल उल्फती 'देहलवी' के पास थी, फिर पटने के हकीम नसीरुद्दीन के पास आई और उनसे ही रिसर्च सुसाइटी ने इसे प्राप्त किया। इसकी दूसरी प्रति लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में है।

शाह आलम फ़ारसी में मिर्ज़ा मोहम्मद फ़ाखिर मकीन से और उर्दू में सौदा से मशवरे-सुख़न किया करते थे। फ़ारसी और उर्दू में 'आफताब' और 'ख़ुरशीद' तथा हिन्दी में 'शाह आलम' के नाम से कविता करते थे—ये उनके विभिन्न तख़ल्लुस (उपनाम) थे। उर्दू गद्य में भी इनकी लिखी हुई कई पुस्तकें बताई जाती हैं, कई प्राचीन लेखकों ने इसका उल्लेख किया है, पर इनका अब तक पता न लग सका है।

शाह आलम ने अपने जीवन के बारह वर्ष बिहार और इलाहाबाद में बिताये, बाकी दिल्ली में। ४८ बरसों तक तख़्त पर आसीन रहे, इनमें १९ साल अंधेपन में बिताये। ये दिन एक प्रकार से असहायावस्था के थे पर इन्हीं दिनों में उनकी काव्य-प्रतिभा पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई।

"शायरी के पर्दे में बेबसी का रोना दिल खोलकर रो दिया।" आँखें जाती रहीं तो दिल के बहलावे का जरिया जबान और कान थे।

आज़ाद 'देहलवी' ने शाह आलम के चार उर्दू दिवानों का ज़िक्र किया है पर डाक्टर स्पिगर की उर्दू पुस्तकों की फेहरिस्त में केवल एक का उल्लेख है।

रचना-सिद्ध थे वह, और समय-समय पर सामयिक कविताएँ फौरन बना डालते थे। मसलन मराठों की संरक्षता में, माधोराव सिन्धिया के साथ दिल्ली आते हुए रास्ते में एक दोहा बनाकर उन्हें सुनाया था—

"मुल्क-माल सब खोय के, पड़े तुम्हारे बस्स,
मधु[1] तुम ऐसी कीजियो, आवें तुमको जस्स।"

फिर एक बार किसी मित्र के संग घूमते हुए उन्होंने कहा—

"कीजिए हमदम भला क्योंकर न शिकवा यार का,
हम तो बन्दे उसके हों, वह यार हो अग़यार[2] का।"

ऐसे ही एक मौक़े पर एक दूसरा शेर भी कहा—

"इस तरह मेरे दिल में दाग़ तूने झड़क-झड़क के रक्खे,
जिस तरह गुल को गुलफरोश पानी छड़क-छड़क के रक्खे।"

गरज़ यह कि शाह आलम अपना अधिक समय साहित्य-चर्चा में बिताते थे। हर रोज़ क़िले में साहित्यिकों का—शायरों का—जमघट हुआ करता था, बादशाह समस्याएँ देते जिनकी पूर्ति शोयरा किया करते थे। एक बार उन्होंने एक मिसरा रक्खा—

"सुबह भी बोसा तू देता मुझे ऐ माह नहीं।"

इसकी पूर्ति हाफ़िज़ अब्दुर्रहमान खाँ नाम के एक शायर ने इस प्रकार की—

"ना मुनासिब है मियाँ वक़्ते सहरगाह नहीं।"

दिल्ली उजड़ रही थी, फिर भी उनकी वजह से बहुत से शायर (कवि) वहाँ रुके हुए थे और जहाँ तक उर्दू साहित्य का सम्बन्ध है, शाह आलम का राजत्वकाल उसके अभ्युदय का समय था—वह जबकि उसका बचपन समाप्त हो चुका था और वह कौमार्यावस्था को प्राप्त था। हकीम सनाउल्लाखां 'फिराक', कुदुरतुल्ला खां 'कासिम', शाह हदाएत, मियाँ शिकेबा आदि शायर काव्य-कानन की सौन्दर्य-वृद्धि कर रहे थे।

उन्हीं दिनों 'इन्शा' भी दिल्ली पधारे और बादशाह उन पर इतना फिदा हो गये कि उन्हें क़िला से जल्दी बाहर जाने की इज़ाजत—अनुमति—नहीं देते, कभी जो वह बाहर जाना चाहते तो कहते, "भई, कहाँ जाओगे यहीं रहो।" यह भी उनके साहित्य-प्रेम का परिचायक था।

---

१. सिन्धिया माधोराव पटेल। २. दुश्मन।

अपनी रचनाओं को वह दूसरों को सुनाया भी करते थे और उनकी आलोचना को, चाहे वह खिलाफ़ की हो या कड़ी-से-कड़ी क्यों न हो, बड़े ग़ौर और धैर्य से सुनते थे। भाषा सरल लिखते तथा अपने भावों को, दिल के दर्द को, बड़ी खूबी से उनमें भर डालते थे।

'नादिराते-शाही' में जो कविताएँ हिन्दी की हैं, उन्हें देखने से यह स्पष्ट लक्षित है कि काव्य तथा संगीत दोनों ही शास्त्रों में उनकी पूरी दखल थी। प्रत्येक के साथ वह किस राग में गाई जायगी यह वर्णित है, यथा—

"वा दिन तें सुध नाहि रही रस पेम भरे जब-तें लखियाँ हैं,
दूजी सुनी नहीं देखी कहाँ उन देख झुकीं सगरी सखियाँ हैं।
चंद से आनन पै कर आपुनो मानो विधाता ने ला रखियाँ हैं,
देखत ही जिया, सच कहिए, अत नीकी सखी बदरी अँखियाँ हैं।"—

के ऊपर लिखा है, 'किदारा, चौताला'। इसी तरह हरेक के साथ है।

नीचे शाह आलम की शायरी के कुछ नमूने देखिए—

१—पाता नहीं हूँ और किसी काम से लज्जत,
जो कुछ कि मैं पाता हूँ तेरे नाम से लज्जत।
कैफीयतें उस दीदए-मैगूँ से जो पाई,
पाई न कभी बादे से और जाम से लज्जत।
जाहिर है तेरी नर्गिसे-मखमूर से मस्ती,
टपके है तेरे लाले-मै-आशाम से लज्जत।
पाता हूँ मजा बेकली और दर्द का ऐसा,
पावे है कोई जैसे कि आराम से लज्जत।
रखता है हवस बोसे की तेरे शहे 'आलम',
पावेगा बहुत तेरे इस इनआम से लज्जत।

२—जों माहे-ईद, उस पर हैगी नजर जहाँ की,
तारीफ़ हो सके नहीं, कुछ तेरे अबरवां की।
करते हैं बेवफ़ाई मुझ से यह जैसी हरदम,
किससे करूँ मैं जाकर फ़रियाद इन बुतां की?
नहीं दोस्ती का मेरी उसके तईं 'यक़ीं' कुछ,
क्या कहिए बदगुमानी उस यारे-बदगुमां की।
जों शमए-सुबहगाही, कोई दम को मेहमां हैं,
प्यारे, खबर शिताबी ले अपने नीमजां की!
ऐ 'आफताब' उसका चाहूँ जो कुछ लिखूँ वस्फ़,
क़ासिर मेरी जबां है, ताक़त नहीं बयां की।

३—हम से कहो, ऐ दिलबर, दिल किससे जाके अटका,
दिन-रात जी को मेरे रहता है ये ही खटका।
उल्फ़त से जबकि हमने दामन को तेरे पकड़ा,
तूने वहीं छुड़ाया, ऐ शोख़, देके झटका।
ग़ैरों के साथ कैसी वाशुद है तुझको, गुलरु,
काँटा-सा एक मैं ही नज़रों में तेरी खटका।
उस नाज़नीं दहन से हर्फ़ इस अदा से निकला,
गोया कि गुन्चए-गुल सहने-चमन में चटका।
अफ़्सूँ न हो मोअस्सिर कोई 'आफ़ताब' उसको,
देखा है जिसने उसकी ज़ुल्फ़े-सियाह का लटका।

४—जब वह नज़रें दो-चार होती हैं, तीर-सी, दिल के पार होती हैं।
रंजिशें मेरी और उस गुल की, रात-दिन में हज़ार होती हैं।
इश्क में बे-हिजाबियाँ दिल को, क्या ही बे-इख़तियार होती हैं।
तू तो जाता है बाग़ में ऐ गुल, बुलबुलें सब निस्सार होती हैं।
कुमरियाँ बन्दगी में तुझ क़द की, सर-बसर तौक़दार होती हैं।
'आफ़ताब' उसके वस्ल की बातें, बाइसे-इज़तिरार होती हैं।

५—मतलूबे-दिल हमारा, ऐ गुल हज़ार, तू है,
सब गुलरुखां पे ग़ालिब, ऐ नौ-बहार, तू है।
मुझको न सैर भावे बाग़ों की और गुल की,
मेरे बहार दिल की, ऐ मेरे यार, तू है।
सूरजमुखी किया दिल इस आफ़ताब रू ने,
उधर को दिल फिरे है, जिधर को यार, तू है।
दिल बेक़रार हरदम तेरे फिराक़ में, आह!
मुझ बेक़रार दिल का, प्यारे क़रार तू है।
तुझ ज़ुल्फ में फंसा है दिल 'आफ़ताब' का अब,
अब दीं रहा न इसलाम, ज़ुन्नार-दार तू है।

६—जब माहरू के सामने आती है चाँदनी,
मुखड़े पर उसके सदक़े ही जाती है चाँदनी।
सैरे-चमन को निकले है जब माहरू मेरा,
सतहे-ज़मीं पै फ़र्श बिछाती है चाँदनी।
हमराह आशिकों के न हो तू ही जब तलक,
किस को यह सैर और किसे भाती है चाँदनी।
इक शब तो टुक निक़ाब को मुखड़े से दे उठा,
जलवे को मुन्तज़िर तेरे आती है चाँदनी।

आईने-रू को देख मेरे होगी मुन्फ़इल,
क्यों अपनी खुदनुमाई जताती है चाँदनी ?

७—मत मिला रक़ीबों सेती, हया की तुझे क़सम,
ऐ बुत, हो साफ़ मुझ से, खुदा की तुझे क़सम !
वादा ख़िलाफ़ियाँ न कर इतनी भी मेरे साथ,
आइने-रू है, सिदक़ो-सफ़ा की तुझे क़सम !
जोरो सितम से हाथ उठाता नहीं है तू,
देता हूँ गर्चे तर्के-जफ़ा की तुझे क़सम !
मत 'आफ़ताब' अपने से कर बेवफाईयाँ,
ऐ दिलरुबा, है महरो-वफ़ा की तुझे क़सम !

८—साहब महल जब बन-ठन आई साजे सकल सिंगार।
पकड़ हाथ समधी ने डाला गल-फूलन का हार।*

९—माँगता हूँ यह, ख्वाजः कुतुब[1],
तुम जी की मुरादें सभी भर करना।
ध्याऊँ तुम्हें, तुम ही सों पाऊँ,
लाग रहूं तुम्हरे चरना[2] ॥

१०—या जग में जबलों रहे गंग जमन को नीर।
सालगिरह तबलों रहे अक़बर[3] पीर कबीर।

११—प्यारे बिना सखी काह करूँ यह नीकी बसन्त जो आई,
फूली गुलाब की सीतल-बास बयार मिली चहुँ ओर को धाई।
बौरी भई हूँ, बोल न जानूँ, भूल गई मन की चतुराई,
बैठ के अम्ब की डारन पे वह बैरिन कोयल कूक मचाई ॥
(गौरी, होरी)

१२—हाथ लिये हतफूल सखी महताब मुखी अति ही छवि छाई,
फूलजरीं सूँ बात कहें अनार लखें चल सो यह सुहाई।
चादर, जाही, जुही, घन चकर, झार छुटें, झलके रोशनाई,
आनन्द सूँ 'शाहे आलम' को शबरात की रात को देत बधाई।
(हमीर, चौताला)

---

* एक सीठना।

१. ख्वाजा कुतुबुद्दीन, एक प्रसिद्ध सूफ़ी पीर। २. चरण, पाँव। ३. शाह आलम के पुत्र।

१३—जाओ चले जित जावत हो तुम, हूँ अब तो चुप नाँह रहूँगी,
नोखे नये जो खिलार भये, तुम जैसी कहोगे, हूँ तैसी कहूँगी।
छाड़ के लाज सखी की पिया की सूँ रावरे तो अब फेंट गहूँगी,
एक सही और दो भी सही, पर तीसरी चोट न लाल सहूँगी।

१४—क्यों छलछन्द करो इतने, चतुराई की बात सों मोहि न भावे,
केसर सूँ अँग कों रँग आय हो लाग गरे कर के चित चावें।
सोहन खाय गये हम सूँ तुम, कैसे जिया तुम सूँ पतियावें,
कैसी मनाई यह होरी, लला, नख दाग कपोल पे नेक सुहावें।

१५—फूली सब डारियाँ भई हैं बहारियां नैनन निहारियाँ क्यारियाँ,
लागें अति प्यारियाँ सो लेकर पिचकारियाँ और गावें गीत गारियाँ।
सीस लिये गडवा फूलन को खेलत बसन्त नवलाईयाँ मारियाँ,
सब मिल करें किलोल नारियाँ एक-एक के संग दे-दे तारियाँ।

(गौरी, होरी)

१६—रूपमती और रसभरी करके सबै सिंगार।
आवत प्यारी बाल वह भरी रँग पिचकार।

१७—लाज छुटी, गृह काज छुट्यो, और बात खुली सबहीं मुख आनी,
हास सह्यो, उपहास सह्यो, घर वास न देत हैं नन्द-जिठानी।
लोग चबाई सूँ नाम धराय के मैं अपनो मन वे पछतानी,
नौज लग्यो तुम सूँ अँखियाँ, पिया, लागे की मार नहीं तुम जानी।

(भूपाली, चौताला)

१८—मन मेरो अमोल ले जात पिया, तुम बार कछू न लगावत हो,
पहले तो लुभाई लगाए भले, फिर पाछे उसे उचटावत हो।
अत छैल छबीले रंगीले महा, गुरबेली, रसीले कहावत हो,
तुम राख न जानत हो तो कहौ, चित काहे पराई चुरावत हो।

१९—साँवरो रँग सुहावनो लागत, गावत आवत राग नयो है,
बंसी बजाये, कछू मुस्काए, लला मन मेरो लुभाय लियो है।
नीकी भली चलि जात हुती, सुध जात रही, यह कैसो भयो है,
देखत ही मन मोहन को, सखि, मो तन को सब चैन गयो है।

२०—हार गये सब चातुर चित्त में सीख सिखाय के जैते सगे हैं,
चंचल चाल सो भूल गये, और लाज के काज सबै ते भगे हैं।
देखत रूप न औरन हार के जा दिन तें उन संग जगे हैं,
नैन नहीं सुरझें, उरझे अब, ऐरी सखी, अत पेम पगे हैं।

(तोड़ी, चौताला)

२१—ईधर बरखा की झरी, ऊधर बरसें नैन।
भला सखी, तू आप कह, किस को पी बिन चैन ?

२२—तराना-तिलाना तोम तन तादीम नादीम तनतन,
नरे नरे तोम तन तन तारे दानी।
क़ासिद रसां व पेशि सनम ईं पयामि मा,
बदनामि इश्क़ शुद जि तोईं नेक नामि मा।
२३—मा रा बयादि आं सनम इंजा अज़ीज़ नेस्त,
लेकिन हज़ार हैफ़ कि ऊ रा तमीज़ नेस्त।
२४—सोई थी रूठ के, चौंक पड़ी, तब हाथ लला को गहे हों मुठी थी;
क्यों न मिलें, सखि, आज पिया हमें, अपनो हाथ में देख उठी थी।
२५—देखत ही यह रूप सखि, लगी जिया कूँ चोट।
नट की सी गत ले गई, पट घूँघट की ओट।
२६—भूषन अं। सिंगार सबं और चोर चुनाय सुगंध लगाई।
दे दे मुबारकबाद कहै 'शाहे आलम' को बकरीद सुहाई ।।
(तोड़ी, चलता तिताला)
२७—आज नवीद करें सब हीं, रमज़ान की ईद मुबारक आई।
रोजे नमाज़ क़बूल भए, 'शाहे आलम' को सब देत बधाई।
(तोड़ी, चलता तिताला)

२८—ऐ री माई, कैसी बन आई यह साल गिरह अक़बर शाह प्यारे को !
सुभ घड़ी जान सब नारी बन आईं आज दीनों सुभ गिरह तारे को ।।
(तोड़ी, अड़ा चौताला)

२९—जय जय तुम्हरो अल्लाह और मुहम्मद
पंजतन पाक नित रहे हामी।
'शाहे-आलम' तुमको मुबारक होवे यह
आज बधी मिरज़ा अकबरशाहनेआमी।
(पूरबी, चौताला)
३०—या अल्लाह ! जोलों, आफ़ताब, महताब, तारागन,
धूतू लों इस साहिब को राज सईद हो,
साहिबक़िरा पादशाहन को पादशाह,
पावत जहां न जासो नित ही मुफ़ीद हो।

गुनी जन गावत बजावत हैं आगे आये,
करत आनन्द सबै देख देख दीद हो,
बरसों में आवे, और कहूं एक दिन,
'शाहें-आलम' की नित ही बकरीद हो ।
(सारंग, बिन्द्रावनी, चौताला)

३१—अबीर, गुलाल सूं झोरी भरी अब रंग भरी पिचकारी लई है,
खेलत होरी को नेह बढ़ा चतुराई सूँ खेल खिलार नई है ।
पीतम ने जब बाहें गहीं, उन सेती कही तब हा हा दई है,
आवत आई कर चोट चलाय भिजाय के लाल को भाज गई है ।
(मुलतानी, धनासिरी, होरी)

३२—देत कहै यह अंजन को जो लीक पिया तुम अंग लगायो,
"खेलत फाग लगी कहीं घात, अब सांचे कहो कन रैन जगायो" ।
और के पेम को नेंम छुटाय के, आपनो ही उन पेम पगायो,
कौन तिया बड़भागन है, जन फागन में तुम्हें रंग भिगायो ?
(गौरी, होरी)

३३—आज लौं काहू ने जानी नहीं कछू, चोरी ही चोरी में पीत जो जोरी,
कसी रही सब नन्द जिठानी माँ, बाँह गहें जब आन के मोरी ।
लाल को रंग में लाल करूं, सखि, कैसे मिलाऊं हूँ सास की चोरी,
लोग की लाज अब लाग नई, कहो, कैसे पिया संग खेलिये होरी !
(हमीर, होरी)

३४—अबीर, गुलाल के नादिर रंग सबी बरसावत आईं,
ताल, मिरदंग रस भीनी तिया मिल फाग को गाई ।
रंग फूहार परें चहुँ आर, अब फूलन गेंद सूँ खेलत भाई,
घात लगाय के आपस में मुख मींडन को सब लाल के धाईं ।
(कामोद, होरी)

३५—नार नवेली की हाथ भली अत रंग भरी पिचकार सुहाई,
खेलत हैं सब रंग भरी कहा आपस में करके चतुराई ।
रीझ रहीं तब हीं सुन के, जब बांसरी कान कन्हैया बजाई,
देखत लाल को फाग खयाल को बाल अबीर, गुलाल ले धाई ।
(कानहरा, होरी)

३६—आज यों बोली नहीं हूं कछू, कोई एक कहै में चार कहूंगी,
हों आप करूंगी रंग से, पर औरन को नहीं खेल सहूँगी ।
गाय रिझाय के पीतम को चित चोर सदा फिर बाँह गहूँगी,
आई बसन्त बहार, सखी, अब कन्त को ले के इकन्त रहूँगी ।
(अड़ाना, होरी)

३७—खेलत फाग को आज सबै, मोरी भीज गई अब रंग सूँ सारी,
खेल की राह सूँ खेल करो नहीं फेंट गहौं और देऊँगी गारी।
अबीर, गुलाल सुगन्ध रलो, और रंग भरी पिचकारी ही मारी,
मो सूँ करो बरजोरी लला मत, दौर गहो नहीं बाँह हमारी।

(अड़ाना, होरी)

३८—रंग भरी पिचकार लिये अब अंगन में सखि आए खरी है,
चातुर चार खिलार बड़ी अति रूप तिया गुन की अगरी है।
गावत फाग सुहाग भरी और अंगन में सब अंग भरी है,
हाथ सुगन्ध गुलाल लिये कहा फूलन की बौछार करी है।

(सोरठ, होरी)

३९—अबीर गुलाल भर-भर झोरियाँ और केसर रंग लिये पिचकारियाँ।
सब मिल करि हैं किलोल नारियाँ, एक एक अंग संग दे दे तारियाँ।
घर से निकसीं नारियाँ, फूलन गेंद मारियाँ, खेलत फाग गा-गा गारियाँ,
स्याम कन्हिया ने बाँह गही, तब भूल गईं सब खेल को हारियाँ।

(गोंड, होरी)

४०—ले पिचकारी चलाए लला, तब चंचल चोट बचाए गई है,
अपनी नाक सूँ खेलत है, कहा चातुर नार खिलार नई हैं।
ऊचक आए सखियन को छोर के लाल गुलाल के मूठ दिई है,
नीकी लगै यह आँखन में, कहा रंग अबीर सूँ होरी भई है।

(जैजैवन्ती, होरी)

४१—रंग सुरंग के फूल बने और नीकी अराइश रंग रली की,
सुन्दर लाल धरी मिहदी जहाँ सोभा बनी अत कँवल कली की।
पाई मुराद सबै जिय की 'शाहे-आलम' चाव सूँ नियाज़ भली की,
देखत होत हुलास दिये अत रोश्नी यों मख़्दूम वली की।

(ऐमन, चौताला)

४२—रंग सुरंग बनी मिहदी और चाव सूँ रोश्नी नीकी सँवारी,
कँवल पे दीपन के गन सोहत बाजत बाजे सबे सुखकारी।
नेक निगाह करो नित हीं तुम पीर बँधाओगे धीर हमारी,
दीजे मुराद कहे मन की, 'शाहे-आलम' लीनी पनाह तुम्हारी।

(भूपाली, चौताला)

४३—मन मेरो अमोल ले जात, पिया, तुम बार कछु न लगावत हो,
पहले तो लुभाई लगाए भले, फिर पाछे उसे उचटावत हो।
अत छैल-छबीले, रंगीले, महा गुर बेली, रसीले कहावत हो,
तुम राख न जानत हो, तो कहो, चित काहे पराई चुरावत हो।

४४—पहचान गई इन बातन सूँ प्रतीत पिया तुम काहे को खोई,
क्यों बकवास करो बिन काज कों, पीर पराई न जानत कोई।
४५—बोलत बोले चुपके रहे क्यों, अब कहो, कौन के बैन चुराए ?
सांची कहो तुम मो सूँ, साजन, काहे फिरो अब नैन दुराए ?
४६—आवन की भोर कही, होय गई अब शाम।
बीत गई सगरी निसा, लेवत तेरो नाम।
४७—सीस कहे, पड़े पाय रहूँ, और बांह कहे, उन्हें छाड़ न दीजे,
जीब कहे, बतियाँ ही करूँ, और कान कहें, धुन वा की सुनीजे।
अंग कहै, लिपटाय रहूँ, और जीव कहै, मुझ माँह रहीजे,
पाय कहें, घर वाही के जाइये, नैन कहें मुख देखो ही कीजे।
४८—बिसरी हमरी पीत सब, तुम्हें न आई लाज।
ढोलन तुम घर कौन के बिरम रहे हो आज ?
४९—बात नहीं कह आवत है, भई पीतम की कहि भांत तू प्यारी,
तो को भली यह चाल न थी हितू सेती भई अब सौत हमारी।
भागन आगे कहा तिया चाहिये यह भाग भले की चाल है न्यारी,
कानों सुनी तुम होगी मसल : "मन भावन को है ढेला सुपारी"।
(तोड़ी, चौताला)

५०—कह बातन से मन लीनो तया ने पीतम की अति पेम लगाई,
मेरी नहीं राह लेवत हैं अब, वा ही पिया ने रैन जगाई।
जानूँ तभी तो ऐसी अली, कछु डार ठगोरी क्यों मोहि ठगाई,
बेर भई पिय आवन को, सखि, सौतन बैरी ने देर लगाई।
(तोड़ी, चौताला)

५१—नई नवेली नार सूँ, नयो लगो है नेह।
भले वले निस के तिया, आयें बासर गेह।
(तोड़ी, चलता तिताला)

५२—कँवल से पान, कलानिध सो मुख, कुन्द से दन्त, कुरंग से नैनां,
गोरो सो गात, सुगन्ध लगात, उजारी लखात पे लाजत बैनां।
सूछम सी कटि बाल स्वाल से, चाल मुराल की, कोयल बैनां,
ऐसी तिया बिन, प्यारा पिया, कहो, कैसे के पावे घड़ी पल चैनां।
(सरी, चौताला)

५३—आय नहीं अजहूँ कह कारण सेज सुगन्ध सिंगार की न्यारी,
जाके हुलास में भूल गये, सुध नाँह रही, किस की घर बारी।

एक घड़ी नहीं छांड़ सके, अब कैसी कहा वह लागत प्यारी,
पीतम संग तो जाने, सखी, आज कौनसी आय लगी है नारी ।
(हमीर, दुताला)

५४—सोच करो और विचार करो, कई दिवस को है यह लेखा,
होगी हितू तुम मोरी बड़ी, अब देख विचारो तो हाथ की रेखा ।
नहीं देख लियो,नहीं जान लियो,सखी आवत है मोहि याही परेखा,
ले ते बला मन हार करी, पर पीतम ने मेरी ओर न देखा ।
(कानहरा, अड़ा, चौताला)

५५—गात सबै अलसात झँभात अब बैन सबै तुतरात सुहाये,
रैन जगे, रस रीत पगे, छतियाँ सूँ लगे, पिय कौन को भाये ?
पेच खुले ठहरात नहीं, पग घूमत सीस पे भोर ही आये,
आये कहाँ तुम आज हो लालन, देत कहे सब दीठ लजाये ।
(अड़ाना, चौताला)

इन चन्द कलामों से ही पाठक शाह आलम की साहित्यिक एवं संगीत कलात्मक मनोवृत्ति का पता पायेंगे । इन रचनाओं पर हिन्दू संस्कृति तथा कृष्ण-साहित्य का प्रभाव साफ़-साफ़ परिलक्षित है । वह उन मुसलमानों में न थे जो हिन्दू देवताओं के नाम से ही घबड़ाते हैं । कहते हैं, शाह आलम तथा उनके उत्तराधिकारी बादशाहों के समय क़िले में तमाम हिन्दू त्यौहार, होली, दिवाली इत्यादि बड़ी धूमधाम और जोशो-ख़रोश के साथ मनाये जाते थे । शाह आलम की बहुत सी रचनाएँ इन्हीं त्यौहारों पर तथा इन्हीं अवसरों के लिए लिखी गई थीं । यही नहीं, बल्कि किसी भी शुभ कार्य के आरम्भ के पूर्व बादशाह, ब्राह्मणों से श्री सत्यनारायण की पूजा भी करवाते थे । उनके भीतर वह धार्मिक संकीर्णता न थी जो आज दिन बहुतेरे मुसलमानों में पाई जाती है । मुग़ल-बादशाहों की यह ख़ास विशेषता थी कि वे—सिवा औरंगज़ेब के—हिन्दुओं के साथ बड़े घनिष्ट रहे, उनके रस्मो-रिवाज, पर्व-त्यौहारों, को अपनाया ही नहीं बल्कि उन्हें अपने दैनिक जीवन का अंग बना लिया । मसलन, अकबर से लेकर बहादुर-शाह द्वितीय तक वे अपने जन्म-दिन पर हिन्दू राजाओं की भाँति तुलादान करते अर्थात् नाज अथवा सोना, चाँदी किंवा जवाहिरातों से अपने को तोल कर उन्हें ब्राह्मणों और ग़रीबों को बाँटते थे ।

हिन्दू धर्म के आन्तरिक सिद्धान्त के समझने की भी उन्होंने कोशिश

की और उसे अच्छी तरह समझा। मूर्ति-पूजा के नाम से घबड़ाये नहीं वरन् उसके पीछे जो गहरा सत्य छिपा है उसकी तह तक पहुँचने की चेष्टा की। अंतिम मुग़ल बादशाह बहादुरशाह 'जफ़र' ने साफ़ शब्दों में कहा—

"मये वहदत की हमको मस्ती है,
बुतपरस्ती खुदा-परस्ती है।"

काश! यह संकीर्णता हमारे वर्तमान मुसलिम भाइयों के बीच न आई होती!

७

माधो जी सिन्धिया

शाह आलम की आँखें जब गुलाम कादिर ने धन-पिपासा से पागल हो फोड़ डालीं तो उन्होंने एक मार्मिक, दुःखभरी गज़ल फ़ारसी में लिखी जो इस प्रकार है—

सरसरे हाद्सा बर्खास्त पये ख्वारीए मा।
दाद बर बाद सरोबर्गे जहानदारिए मा।
आफ़ताबे फलके रिफ्अतो शाही बूदेम।
बुर्द दर शामे जवाल आह सियाकारीए मा।
चश्मे मा कन्दा शुद अज़ दस्ते फ़लक बिहतर शुद।
ता न बीनम कि बुरद गैर जहानदारीए मा।
दाद अफ़गान बच्चाए शौकते शाही बर बाद।
कीस्त जुज़ ज़ाते मुबर्रा कि कुनद यारीए मा।
बूद जानकाह ज़रोमाले जहां हमचू मर्ज।
दफ़ा अज फ़ज़ले इलाही शुदा बीमारीए मा।
कर्दा बूदेम गुनाहे कि सज़ायश दीदेम।
हस्त उम्मीद कि बख्शंद गुनाहगारीए मा।
कर्दा सी साल निज़ारत कि मरा दाद बबाद।
ज़ूद तर यापता पादाशे सितमगारीए मा।
अहदो पैमान बमियां दादा नमूदंद दग़ा।
मुख़लिसां खूब नमूदंद वफ़ादारीए मा।
शीर दादम अफ़ई बच्चाए रा पर्वर्दम।
आखबत गश्त मुजव्विज़ ब गिरफतारीए मा।
हक्के तिफ्लां कि ब सी साल फ़राहम करदम।
करदा ताराज नमूदंद सुबकसारीए मा।
क़ौमे मुग़लिया ब अफ़ग़ान हमा बाज़ी दादंद।
बस कि गश्तंद मुजव्विज़ ब गिरफ़तारीए मा।
ईं गदा ज़ादाए हमदान कि ब दोज़ख़ ब रवद।
बानीए जौरो सितम शुद ब दिल अफ़गारीए मा।

गुल मुहम्मद कि ज़ि मर्वान ब शरारत कम नेस्त।
चि कदर कर्दा वकालत पये आज़ारीए मा।
नामुरादे व सुलेमान व बदलबेगे लईन।
हर सिह बस्तंद कमर बहरे गिरफतारीए मा।
शाह तीमूर कि दारद सरे निस्बत बा मन।
ज़ूद बाशुद कि ब आयद ब मददगारीए मा।
माधो जी सिन्धिया फ़र्ज़न्दे जिगरबन्दे मन अस्त।
हस्त मसरूफे तलाफीए सितमगारिए मा।
आसफुद्दौला व अंग्रेज़ कि दुस्तूरे मन अंद।
चि अजब गर ब नुमायंद मददगारीए मा।
राजाओ राव जमीनदारो अमीरो चि फ़क़ीर।
हैफ़ बाशुद कि न साज़न्द ब ग़मखारीए मा।
नाज़नीनाने परी चिहरा कि हमदम बूदंद।
नेस्त जुज़ महले मुबारक ब परस्तारीए मा।

'आफताब' अज़ फलक इमरुज़ हवावस दीदेम।
बाज़ फर्दा दिहद एज़द सरो सरदारिए मा।

दुर्भाग्य का तूफान हमें मिटाने को उठा,
इसने हमारी बादशाही हुकूमत को मिटा दिया।
बादशाहत के आसमान में हम सूर्य की तरह चमक रहे थे,
आह! हमारे ही दुष्कर्म हमारे पतन के कारण बने!
एक अफगान ने हमारी शाही शानो-शौकत को मिटाया,
सिवाय परमात्मा के अब हमारी कौन मदद कर सकेगा?
हमने साँप को दूध पिलाया था,
परिणाम में उससे हम दंशित[1] हुए
मुग़ल और अफ़ग़ान—सबों ने हमें धोखा दिया,
हमें पकड़ने के लिए उन्होंने मन्सूबे बांधे।
हमदान से आया हुआ इस भिक्षु-पुत्र ने (नर्कगामी हो वह)
हम पर जुल्मो-सितम ढाया, दिल पर घाव कर डाले।
गुल मुहम्मद ने जोकि मरवान से किसी क़दर कम बदमाश नहीं,
हमें सताने को कोई उपाय उठा न रक्खा।

---

[1] लिखा भी है—
'फणी पीत्वा दुग्धं वमति गरलं दुःसहतरम्।'
'पयः पानं भुजङ्गानामं केवलं विषवर्द्धनम्!'

सुलेमान और बदल बेग, घृणित व्यक्ति,
तीनों ने हमें पकड़ने की पूरी तैयारी की।
बादशाह तैमूर[1], जो हमारे सम्बन्धी हैं,
अविलम्ब हमारी रक्षा को आयेंगे।
माधोजी सिन्धिया—जो हमारे पुत्र के समान हैं—
हमारे जुल्मों का बदला लेने को प्रस्तुत हो रहे हैं।
आसफ़ुद्दौला और अंग्रेज़—हमारे मददगार हैं,
आश्चर्य नहीं कि वे हमें सहायता भेजें।
बड़े ही परिताप का विषय होगा यदि राजा, राव,
ज़मींदार, धनी, और गरीब, हम से हमदर्दी न करें।
सुन्दरियाँ दासी रूप में हमारी सेवा में संलग्न रहती थीं,
आज हमारी खिदमत को सिवा हमारी पत्नी के कोई नहीं।
ओ 'आफताब'[2] किस्मत ने आज हमें आपदाओं में डाला है,
पर संभव है, परमात्मा हमें कल पुनः राजासन पर बिठाये !

शाह आलम ने अपने उपर्युक्त कलाम में जिन माधोजी सिन्धिया की चर्चा की है और जिसे पुत्र संज्ञा से सम्बोधित किया है—"माधो जी सिन्धिया फ़र्ज़न्दे जिगर बन्दे मन अस्त"—वह एक ऐसा व्यक्तित्त्व था जिसकी तत्कालीन तवारीख़—इतिहास में उपेक्षा नहीं की जा सकती और न उन दिनों की घटनाओं का जिक्र ही छोड़ा जा सकता है। भारत की फैली हुई अराजकता में सिन्धिया ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अमन लाने की चेष्टा की और बहुत हद तक इस प्रयास में सफल भी हुए। वह मराठा थे और इसमें शक नहीं कि मराठा साम्राज्य के स्थापन में उनका बहुत बड़ा हाथ था। साथ ही यह भी सही है कि मराठों के उत्कर्ष का बहुत कुछ श्रेय औरंगज़ेब को भी है।

मुग़ल साम्राज्य की, भारत में, नींव दृढ़ करने वाला सर्वप्रथम बादशाह अकबर था जिसने हिन्दू भावनाओं पर आघात न करके उन्हें सद्भावना का लेप प्रदान किया और इस प्रकार हिन्दुओं को अपनी ओर आकर्षित भी। महाराणा प्रताप जैसे एक-दो राजाओं को छोड़ बाक़ी सभी हिन्दू राजा उससे जा मिले और केवल अकबर की तलवार के ज़ोर से,

---

१. ईरान के तत्कालीन शासक।
२. शाह आलम का तख़ल्लुस, उपनाम।

यह कहना सरासर ग़लत होगा। अकबर का यह प्रयत्न कि वह दोनों जातियों—हिन्दू-मुसलमानों—के बीच सांस्कृतिक एकता स्थापित करे इसका एक मूल कारण था। जहाँगीर ने अपने पिता की इस नीति का काफ़ी हद तक पालन किया, शाहजहाँ ने भी। मुग़ल दरबार में हिन्दू तथा मुसलमान एक-सा सम्मान पाते रहे तथा हिन्दू संस्कृति के विभिन्न अंगों को उन्होंने सम्मान ही नहीं दिया, उसकी प्रगति में सहायक भी बने। अकबर तथा जहाँगीर ने हिन्दू रानियों से विवाह कर अपने लिए यह असम्भव कर दिया कि उनके भीतर हिन्दू-विरोधी भावनाओं का वह प्रसार जो आगे चलकर औरंगज़ेब में हुआ, हो सके। फ़ारसी के एक ग्रन्थ में लिखा है कि जिस समय शाहजहाँ की हिन्दू माता मान बाई का दाह-संस्कार हो रहा था वह इतना दुःखापन्न थे कि उन्हें दो आदमी अपने हाथों से पकड़े हुए थे ताकि वह जलती हुई चिता पर कूद न पड़ें।

औरंगज़ेब के भीतर, पर, यह भावना न आ सकी। इसका एक मुख्य कारण यह भी हुआ कि उसकी माँ एक ऐसे धर्मान्ध, हठधर्मी ईरानी मुसलमान की पुत्री थी जो इस्लाम के तलवार के ज़ोर पर प्रचार का समर्थक तथा भिन्न धर्मावलम्बियों का प्रबल शत्रु था। स्वभावतः धर्मोन्मत्तता उसके खून में थी। सरमद जैसे सूफी महात्मा को जिसने कत्ल कर दिया, वह हिन्दुओं का विरोधी क्यों न होता? ऐसी परिस्थिति में हिन्दू राजाओं के साथ उसकी मुठभेड़ अवश्यम्भावी थी, फलतः दक्षिण में मराठों के संग उसका ज़बरदस्त संघर्ष उठ खड़ा हुआ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मराठों का आदि संस्थान महाराष्ट्र था—वह भूमि जिसकी पश्चिम दिशा में समुद्र, उत्तर में नर्मदा, पूर्व में बैन गंगा तथा दक्षिण में कृष्णा प्रवाहित होती है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यान् सँग के यात्रा-वर्णन से यह ज़ाहिर होता है कि ईसा के पूर्व सन् ६४० ई० में वहाँ एक शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य का अस्तित्व था जिसकी राजधानी वर्तमान बम्बई शहर के समीप का कल्याण नामक नगर था। १६वीं सदी में पुर्तगीज़ों ने आकर यहाँ अपना अड्डा जमाया तथा एक बड़े से क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया। उसका एक अंश गोआ आज भी उनके अधीन है।

मराठे शुरू से ही युद्ध-कुशल थे तथा दक्षिण के बीजापुर आदि

मुसलमानी राज्यों में उनकी इसी कारण से बड़ी कद्र थी। जिन दिनों बादशाह शाहजहाँ ने फ़ौज भेजकर बीजापुर को जीतना चाहा था, वहाँ का शासन-सूत्र राज्याधिपति को नाबालगी के कारण वस्तुतः एक मराठा सेनाध्यक्ष के ही हाथों था, शाह जी भोंसला के जो कि प्रसिद्ध छत्रपति शिवाजी के पिता थे। पीछे चलकर शाह जी ने शाहजहाँ को अहमद नगर के निजाम के विरुद्ध सहायता प्रदान की और उसकी कृपा के भाजन बने। उनके पुत्र शिवाजी ने, पर, एक दूसरा ही रास्ता पकड़ा––बीजापुर से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया तथा मुग़ल सल्तनत के खिलाफ़ बग़ावत का झंडा उठाया। औरंगज़ेब की सारी शक्ति दक्षिण में छत्रपति शिवाजी के साथ लड़ने में खर्च हुई; फिर भी सफलता न मिली और अन्त में नैराश्य एवं पश्चात्ताप––ग्लानि––की आग में जलता हुआ वह संसार से चलता बना। बीजापुर, गोलकुंडा, शिवाजी, ये तीन औरंगज़ेब ही नहीं बल्कि समस्त मुग़ल साम्राज्य की अधोगति के प्रबल कारण हुए––उस साम्राज्य की जिसकी नींव बाबर ने स्थापित की तथा जिसका प्रतापादित्य अकबर के शासन-काल में पूर्णतः भासमान हुआ। मुगल बादशाहों की शानो-शौकत, प्रताप तथा दौलत का पता उन विदेशी यात्रियों के यात्रा-वर्णन से मालूम होता है जिन्होंने अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासन-काल में इस देश की यात्रा की थी। इनमें से एक, बर्नियर—जिसने फ्रांस के १४वें लूई तथा सीरिया एवं मिस्र के सुलतानों के दरबार भी देखे थे—ने मुग़ल दरबार के सम्बन्ध में लिखा है—"एक बड़े से दालान के बीचोंबीच राजासन पर ज्योतिपूर्ण कपड़ों से सुसज्जित बादशाह आसीन थे। फूलदार मलमल, जिस पर सोना-चाँदी के महीन काम बने हुए थे, की सदरी बदन पर तथा सर पर किनखाप का साफ़ा था जिस पर बाज की तरह का एक पक्षी निर्मित था जिसके पाँव बड़े-बड़े बहुमूल्य हीरों के बने थे, जो सूर्य की तरह चमकते थे। गले में मोतियों का लम्बा हार लटक रहा था। सोने के छः ऊंचे खम्भों पर उनका तख्त आधारित था तथा उस पर बड़े-बड़े माणिक, पन्ना और हीरे जड़े थे। इनके मूल्यांकन में मैं असमर्थ हूँ चूँकि इनके समीप तक पहुँचना मेरे लिए कठिन था, असम्भव था, पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि हीरों का इनके बीच आधिक्य ही नहीं, बाहुल्य था। कहते हैं, इस तख्त की कीमत पाँच करोड़ रुपये है। (शाहजहाँ के 'तख्ते-ताऊस'

से मतलब है जिसकी बर्नियर ने २४,००,००० पौंड कीमत लिखी है पर जिसका टैभरनियर का मूल्यांकन ४८,००,००० पौंड का है।) राजासन के नीचे बड़े-बड़े राजे, सामन्त, राजदूत इत्यादि निगाह नीची किये खड़े थे। इसके बाद मनसबदार वगैरह......

गरज़ यह कि मुग़ल साम्राज्य उन दिनों अपने पूरे चढ़ाव पर था और उसकी तुलना प्राचीन सूसा एवं बेबिलोन के साथ ही की जा सकती थी। पर कुछ ही दिनों के बाद औरंगज़ेब की ग़लत शासन-नीति के कारण यह अधोगति की ओर अग्रसर हो चला। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद यह गति और भी तीव्र हो चली। दक्षिण का सूबा जिसकी विजय और निर्माण ने उसकी सारी शक्तियाँ खर्च करा डालीं, हुशैन अली नामक एक व्यक्ति के शासनाधीन जा पड़ा, पर स्वयं दिल्ली रहकर शासन के सारे कार्य उसने अपने सम्बन्धियों को सौंप डाले। परिणाम यह हुआ कि वह अधिक दिनों तक उनके अधिकार में नहीं रह सका, कमरुद्दीन खाँ नामक एक तुर्क सेनाध्यक्ष के हाथों जा पड़ा। कमरुद्दीन खाँ ने आसफजाह की उपाधि ग्रहण की तथा मुहम्मदशाह बादशाह का १७२१ में प्रधान मंत्री जा बना। पर मुहम्मदशाह के साथ अधिक दिनों तक न टिक सका, दकन लौट आया और उस राज्य की स्थापना की जो आगे चलकर निज़ामशाही कहलाई। दक्षिण के प्राचीन मुसलमानी राज्यों की भीत पर निर्मित वह राज्य शुरू में स्वतंत्र होकर भी एक सूबा ही कहलाता रहा तथा इसके शासक अपने को मुग़ल बादशाहों के राज्य-प्रतिनिधि, निज़ामुलमुल्क ही कहते रहे। हैदराबाद के निज़ाम इन्हीं के वंशज हैं।

आसफजाह एक बड़े चतुर पुरुष थे तथा मराठों से बजाय इसके कि झगड़ा करें, मिलकर चलते रहे। मराठों को उन सूबों से जो कर मिलता था उसे बन्द करने में वह असमर्थ थे पर उन्होंने उनके साथ समझौता कर यह तय किया कि मराठे कर स्वयं न वसूलें, आसफजाह ही उसे वसूल कर उन्हें दे दिया करेंगे। इस प्रकार अपनी बुद्धिमत्ता से उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा बचा रक्खी।

मराठे अब काफ़ी बलवान हो चले तथा एक सुसंगठित शासन प्रणाली का निर्माण कर लिया, वह इस प्रकार थी—मराठा साम्राज्य के राज्याधिपति सर्वोच्च 'प्रतिनिधि' संज्ञा से ज्ञात थे पर वास्तव में शासन

का सारा भार आठ जनों की एक समिति के ऊपर था जिसे 'अष्टप्रधान' कहते थे। इसके सभापति 'मुखप्रधान' (पेशवा) कहे जाते थे। धीरे-धीरे सारे अधिकार पेशवा के हाथों आ गये, 'प्रतिनिधि' तथा 'अष्टप्रधान' नामक मात्र को रहे। पेशवा बाजीराव एक शक्तिशाली पुरुष थे, उनके संचालन काल में मराठों की सैनिक-शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई, राज्य विस्तार भी। बाजीराव ने सर्वप्रथम मालवा को अपने अधीन किया, फिर बंगाल, उड़ीसा आदि की ओर पाँव बढ़ाये। हिन्दुस्तान के उत्तर-पूर्व के अधिकाँश इलाके मराठों के आक्रमण तथा लूटपाट से कंपित हो उठे। बंगाल तथा उड़ीसा में आज भी मराठों के नाम से माताएँ अपने शिशुओं को डराती तथा उन्हें सोने को बाध्य करती हैं।*

मराठों ने बंगाल को बुरी तरह लूटा जिसका विस्तृत वर्णन 'मुताखरीन' नामक फारसी के इतिहास-ग्रन्थ में पाया जाता है। इनकी शनि-दृष्टि विशेषतः मुर्शिदाबाद, कासिम बाज़ार आदि नगरों पर थी जहाँ बड़े-बड़े व्यापारी रहा करते थे। मराठों का ऐसा आतंक था कि लोग मराठों के बंगाल-प्रवेश का सम्वाद पाते ही शहर छोड़-छोड़ कर भागने लगते थे। जो घर छोड़ने में असमर्थ होते वे अपने माल-असबाब को अन्यत्र भेजने लगते थे, ऐसे ही एक मौके पर, सन् १७४२ ई० में, कहते हैं, मुर्शिदाबाद के सारे माल-असबाब, धन-दौलत, कलकत्ते भेज दिये गये थे। एक ही दिन में २०७ सामानों से लदी हुई नावें वहाँ से कलकत्ते पहुँची थीं। फिर भी मराठों ने मुर्शिदाबाद के विख्यात जगत्-सेठ की कोठी लूटकर एक दिन में पूरे दो करोड़ रुपये ले लिये थे। इनके भय से बहुतेरे ग्रामीण गाँव छोड़-छोड़ भी भाग जाते और इस तरह खेत बिना जोते-बोये ही रह जाते थे।

कई वर्ष हुए मैमनसिंह ज़िले में एक हस्तलिखित पुस्तक मिली थी। गंगाराम नाम का कोई व्यक्ति इसका लेखक था। जगत्-सेठ की कोठी लूटे

*बंग-माताएँ अपने लोरी-गीत में उन्हें कहती हैं—

> **छेले घुमलो, पाड़ा जुड़लो, बर्गी एलो देशे;**
> **काल बुलबुलि ते धान खेलो, खाजना देबो किशे ?**

बर्गी = मराठे।

जाने के सम्बन्ध में इसमें इस प्रकार लिखा है--

तबै बरगी पार हइल हाजिर गंजेर हाटे,
शीघ्रगति आइसा जगत सेठेर बाड़ी लुटे।
आड़काट टाका यत घरे छिल,
छोड़ार खुरचि भाईरा सब टाका निल।
तबै सयी दुइ-तिन टाका छड़ाइया,
शीघ्रगति गेला बरगी गंगा पार हइया।
तबै फकीर-फाकीरा, गिरस्त जत छिल,
सेई सब टाका तारा लुटिते लागिल।
तबे काटयांते नवाब साहिब सुनिल,
जगत सेठेर बाड़ी बरगी लुइटा गेल।
एतेक कथा यदि हरकरा कहिल,
काटयां हइते नवाब शीघ्र चलिल।
रातारातो तबे नवाब आइला मोनकरा,
भोर हइते तबे पहछिला डेरा।
तबे हाजि साहेब के नवाब अनेक बुलिल,
एतेक लस्कर रईते बाड़ी लुइटा गेल।*

मराठे बिहार तक आ धमके पर टेकारी (गया) के महाराज सुन्दर सिंह के द्वारा मार भगाये गये, फिर न लौटे।

तात्पर्य यह कि कुछ ही दिनों में मराठे पेशवा के नेतृत्व में काफ़ी संगठित हो गये तथा अपने आक्रमण से भारत के अधिकांश हिस्सों में आतंक फैला डाले। सन् १७३१ के अन्त तक मराठा सेना की संख्या एक लाख को पहुँच चुकी थी। २८ अप्रैल, १७४० को पेशवा बाजीराव की मृत्यु हो गई और उनके पुत्र बालाजी राव पेशवा हुए। इसके बाद ही मराठा सामन्तों के बीच पारस्परिक कलह—ईर्ष्या-द्वेष—का आरम्भ हुआ जो कि अन्त में मराठा शक्ति के विनाश का कारण बना।

इन्हीं दिनों दिल्ली पर विपत्ति के काले बादल घिर आये—नादिर-शाह क़ाबुल एवं पंजाब को पाँव से रौंदता हुआ दिल्ली की सरहद पर आ पहुँचा। बादशाह मुहम्मदशाह ने कोशिश की कि वह पानीपत से ही लौट

*मराठे गंगा पार कर आये तथा जगत्-सेठ के जितने आरकाटी रुपये बच रहे थे, उन्हें लूट ले गये। नवाब (मुर्शिदाबाद) को ख़बर मिली तो वह फौरन मुर्शिदाबाद लौटे तथा नाराज हुए कि लश्कर के होते हुए ऐसा क्यों हो पाया?

जाय; स्वयं जाकर मिला, भेंट दी पर वह न लौटा। दिल्ली आकर क़िले में डेरा डाला और दिल्ली की प्रसिद्ध लूट-पाट और कत्ले-आम—जिसकी इस पुस्तक के प्रारम्भिक परिच्छेद में विस्तृत चर्चा है—का हुक्म दे नगर-निवासियों पर विपत्ति की वर्षा की।

नादिर के बाद उसके उत्तराधिकारी अहमद शाह अब्दाली ने भी बार-बार आक्रमण कर मुग़ल सल्तनत की नींव कमज़ोर कर दी। मुग़ल सेना के बीच कुछ ऐसी कमज़ोरियाँ भी आ घुसीं कि उसके लिए बाहरी आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करना कठिन ही नहीं, असम्भव हो चला। सेनाध्यक्षों के बीच आपस के झगड़े—पारस्परिक ईर्ष्या—फ़ौज के अन्दर दीमक का काम कर रहे थे। स्वभावतः अनुशासन शेष-प्रायः था। शाही मामलों में मराठों का सर्वप्रथम हस्तक्षेप १७५१ में हुआ, जबकि अवध के नवाब सफदरजंग ने अफ़ग़ानों के अवध पर आक्रमण करने पर तत्कालीन मुग़ल बादशाह की अनुमति ले मालवा से मल्हारराव होल्कर को सहायतार्थ आमंत्रित किया। मराठे आये और अफ़ग़ानों को पहाड़ियों में मार भगाया। पुरस्कार रूप में उन्हें गंगा और यमुना के बीच का प्रदेश दोआब प्राप्त हुआ और इस प्रकार दिल्ली के समीपवर्ती प्रान्त पर उनके पाँव जमे। यह इलाका उनके पास तब तक रहा जब तक कि १७६१ में पानीपत के युद्ध में वे पराजय को प्राप्त न हुए। दिल्ली के मामलों में मराठों का भाग लेना दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। मुस्लिम सामन्तों तथा दरबारियों के आपसी झगड़े में भी वे पूर्ण रूप से हाथ बँटाने लगे। इन्हीं दिनों अहमदशाह अब्दाली ने दो बार पुनः भारत पर आक्रमण किये, छोटी-मोटी लड़ाइयाँ हुईं, मराठे हारे पर भाव साहिब के नेतृत्व में पुनः संगठित हो गये। अहमदशाह तथा मराठों के बीच सबसे बड़ा और अन्तिम संघर्ष पानीपत के मैदान में १७६१ में हुआ। मराठों की मदद में कतिपय राज-पूत राजा प्रसिद्ध जाट सरदार सूरजमल, बुन्देलखंड के गोबिन्दपंथी आदि भी अपनी-अपनी फ़ौजें लेकर आ जुटे; दूसरी ओर अब्दाली के सहायतार्थ अनेकों मुसलमान सामन्त भी आये। नजीब खाँ की सिफारिशों पर अवध के नवाब शुजाउद्दौला तक आ धमके। मराठों की छावनी कितनी प्रभाव-शालिनी थी यह ग्रांट डफ के शब्दों में ही सुनिए—

"The lofty and spacious tents lined with silks and broap cloths, were surmounted by great gilded ornaments conspicuous at a

distance,...........Vast numbers of elephants, flags of all descriptions, the finest horses magnificently caprisoned..............seemed to be collected from every quarter...........''

पर इतनी संचित शक्ति के उपलब्ध रहने पर भी मराठों की हार ही हुई। कारण वही थे जो इस मुल्क को हमेशा से कमज़ोर करते आये हैं, मतान्तर एवं पारस्परिक कलह। मराठों की फ़ौज अभी युद्ध-क्षेत्र में पहुँच भी न पायी थी कि भाव साहिब तथा होल्कर और सूरजमल के बीच झगड़ा उठ खड़ा हुआ। H. C. Keene नामक एक अंग्रेज़ इतिहासकार लिखता है—

"A difference of opinion soon declared itself among these various elements. Holkar and Surajmull experienced in partisan operations pointed out to the Bhao that it was not by regular warfare that the Maharathas had heretofore baffled the armies of the Muslims; and they proposed that he should leave his camp and followers in some strong place, like Bharatpur or Gwalior, while he resorted to the traditional Maratha tactics. These were to waste the country, to cut off Convoys, and not to hazard fighting on large scale till the enemy were exhausted by want or dispersed in search of forage."

यानी उन्होंने भाव को उसी युद्ध-नीति पर चलने की राय दी जिसका शिवाजी ने औरंगज़ेब के ख़िलाफ़ उपयोग किया था। पर उन्हें यह राय पसन्द न आई, दोनों का 'अजापुत्र' कहकर तिरस्कार किया तथा कहा कि लड़ाई की बातें वे क्या जानें। परिणाम यह हुआ कि उन दोनों ने अपना सहयोग वापस ले लिया। उधर दुर्रानीशाह अपने बल-संचय में लगा हुआ था, नजीब, शुजा, रुहेले, सभी इसके पक्ष में आ जुटे।

पानीपत की लड़ाई मराठों के लिए अत्यन्त ही घातक साबित हुई। विश्वासराव हाथी पर ही मार डाले गये, प्रायः ४० हज़ार सैनिक युद्ध-क्षेत्र में बन्दी हुए जिन्हें मुसलमानों ने कत्ल कर डाला।

ग्रान्ट डफ के कथनानुसार दो लाख सैनिक मौत के घाट उतरे। गरज़ यह कि मराठों की सारी सेना विध्वंस को प्राप्त हुई। जनको जी, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है, बन्दी हुए पर दूसरे ही दिन दुश्मनों ने उन्हें भी क़त्ल कर डाला। उनके पाँच पुत्र युद्ध-क्षेत्र पर खेत आये, केवल छठे माधवराव सिन्धिया, जो कि उनकी अवैध सन्तान थे, बचे रहे। प्रसिद्ध

इतिहासकार एलफिंसटन ने लिखा है—

"Never was a defeat more complete, and never was there diffused so much consternation, grief and despondency spread over the whole Maratha people; most had to mourn relations and all felt the destruction of the army as death-bow to their national greatness."

अर्थात्, ऐसी पूरी हार इससे पहले कभी न हुई या विपत्ति जिसने इतनी व्याकुलता फैलाई हो। सारी मराठा-जाति पर दुःख और नैराश्य छा गया। अधिकाँश जनों को अपने सम्बन्धियों की मृत्यु पर आँसू बहाने पड़े तथा सबों ने फ़ौज के इस विध्वंस को अपने राष्ट्रीय गौरव एवं उत्कर्ष की समाप्ति समझा।

अहमदशाह यद्यपि विजयी हुआ पर उसे भी अपार क्षति, धन-जन दोनों की ही, उठानी पड़ी। भारतवर्ष से लौट चला वह, पर जाने के पहले शाह-आलम—जो कि इलाहाबाद में निष्कासन के दिन बिता रहे थे—को बादशाह घोषित कर उनके ज्येष्ठ पुत्र मिर्जा जवान बख़्त की काम-चलाऊ सरकार का सदर तथा नज़ीब खाँ को वजीरे आलम बनाता गया। फिर वह हिन्दुस्तान न लौटा। पानीपत के इस युद्ध में यदि मराठे विजयी हुए होते तो हिन्दुस्तान का नक्शा ही कुछ और होता। बंगाल पर आक्रमण कर अंग्रेज़ों को उखाड़ फेंकने का जो उनका उद्देश्य था और जिसमें उन्हें शाह आलम और शुजाउद्दौला दोनों की ही सहायता प्राप्त होती, उसे वह अवश्य ही पूरा करते, और यहाँ अंग्रेज़ों की सत्ता स्थापित न हो पाती—पर विधि का विधान कुछ और ही था, मराठों की पराजय ने बंगाल में ईस्ट इंडिया कम्पनी के पाँव मज़बूत कर डाले और उन्हें इस लायक बना डाला कि वे भारत के बाक़ी सभी सत्ताओं से सफलतापूर्वक लोहा ले सकें।

पानीपत की इस पराजय के बाद ऐसा प्रतीत हुआ कि मराठों के दिन सदा के लिए चले गये। बची-खुची सेना लेकर पेशवा पूना लौटे और हार के शोक से शीघ्र ही संसार से चल बसे। मराठों के सामने अँधेरा था, पर इस अंधियाली में भी साहस न त्यागने वाला बाला जी राव की अवैध संतान माधोजी सिन्धिया था जो पानीपत की लड़ाई से बचकर निकल आया था और मराठों के पुनरोत्कर्ष के स्वप्न देख रहा था। पानीपत के बाद जाट और सिखों का ऊधम दिन-ब-दिन बढ़ता गया। नज़ीब खां के

द्वारा वह रोका न जा सका। सूरजमल के कनिष्ठ पुत्र अपने को राजा घोषित कर आगरा से अलवर तक के इलाकों पर पूर्ण अधिकार से राज्य करने लगा। कहते हैं, ६०,००० सैनिकों की सुसंगठित फ़ौज उसके पास थी। पंजाब में सिख खालसा भी उत्तरोतर शक्ति ग्रहण करता गया।

माधोजी सिन्धिया के नेतृत्व में मराठों ने पुनः ताकत हासिल की और सन् १७६९ में वे फिर उत्तर भारत में आ उपस्थित हुए। भरतपुर पर हमले कर जाटों को परास्त किया, फिर दिल्ली के निकट आकर नजीब खाँ को समझौते के पैग़ाम भेजे। सिन्धिया तथा होल्कर की फ़ौजें एक साथ मिल चुकी थीं और इस सम्मिलित फ़ौज में मराठों के सिवाय मालवा के बाशिन्दे, दो-आब के हिन्दू, अरब, अबीसीनियन तथा मालाबार के लोग भी काफ़ी संख्या में थे। सिन्धिया नजीब के साथ किसी भी प्रकार की सन्धि के बिल्कुल खिलाफ़ थे पर होल्कर की सेना के अध्यक्ष ताकुजी ने, जिसे महारानी अहल्याबाई ने पूरे अधिकारों के साथ भेजा था, नाजोब को मराठा छावनी में आमंत्रित किया। नजीब आया और अपने पुत्र जाबित खाँ के हाथ उनके हाथों में देकर बोला—"मैं वृद्ध हो चुका, मेरा यह पुत्र है, अब आप इसके साथ जैसा भी उचित समझें व्यवहार करें।" सिन्धिया की सहानुभूति ग्रहण करने को, पर, उसकी चेष्टा सफल न हुई। सिन्धिया ने कहा—"मैं तो बदले का भूखा हूँ—रक्तपात का, हज़ारों के ख़ून का, अपने भाई तथा अन्यान्य सम्बन्धियों की हत्या का। मेरे मित्र यदि इस मुसलमान सामन्त के साथ सुलह करना चाहते हैं, करें, पर मैं इस पर अपनी सम्मति की मुहर नहीं लगा सकता। किन्तु पेशवा मेरे मालिक हैं, वह यदि इस सन्धि को स्वीकार करेंगे तो उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य होगी।" नजीब खाँ इसके बाद दिल्ली छोड़कर अपने घर नजीबाबाद चला गया और वहीं १७७० में उसकी मृत्यु हुई। नजीब के सम्बन्ध में मिस्टर मैन्सीटर्ट, जो बंगाल में अंग्रेज़ों के सदर थे, ने लिखा था—"हिन्दुस्तान में वह एक ही आदमी था जिसका चरित्र पवित्र भी था, उच्च भी।"

किन्तु जाबित पिता जैसा न हुआ। स्वभाव का भीरू तथा चरित्र का कमज़ोर था। मराठों की बढ़ती हुई शक्ति को सशंकित दृष्टि से देखता रहा पर उसे रोकने का उसे साहस न हुआ। दिल्ली के आस-पास मराठे

कर वसूलते रहे। वह दिल्ली में बैठा हुआ बेग़मों के साथ शाह आलम—जो कि अब भी इलाहाबाद में निर्वासन की-सी दशा में पड़े हुए थे—के ख़िलाफ़ षड्यंत्र रचता रहा और शाही आय के रुपयों को बजाय इसके कि वे बादशाह के पास भेजे जाएँ स्वयं हड़पता रहा। इतने में १७७१ में मराठे दिल्ली आ पहुँचे और क़िले को अपने अधिकार में कर लिया। जाबित के लिए सिवाय दिल्ली छोड़कर भागने के कोई दूसरा चारा न रहा। वह भाग गया। शाह आलम यद्यपि अंग्रेज़ों की संरक्षता में इलाहाबाद में अपने जीवन के दिन बिता रहे थे पर दिल्ली लौटने तथा अपने पूर्वजों के तख़्त पर बैठने की उनकी तमन्ना बाक़ी थी—वह अब भी लाल क़िले के स्वप्न देखा करते थे। नजीब ख़ाँ का मृत्यु-संवाद पाकर उनकी आशा और भी दृढ़तर हो उठी और उन्होंने अपने एक दूत के द्वारा मराठों के संग बात-चीत शुरू कर दी। नवाब शुजाउद्दौला और अंग्रेज़ दोनों ही इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे पर उन्होंने उनकी राय अनसुनी कर मराठों से समझौता किया जिसके अनुसार शाह आलम ने १० लाख रुपये पूना दरबार को देने का वचन दिया। शाह आलम ने दिल्ली के लिए प्रस्थान किया तथा वर्षान्त के पूर्व ही वह फर्रुखाबाद आ पहुँचे। मराठों की मुख्य सेना दिल्ली में रुकी रही ताकि वहाँ किसी प्रकार का उपद्रव न हो पर एक छोटी-सी टोली लेकर माधोजी सिन्धिया आगे बढ़े और फिर बादशाह को अपने साथ-साथ दिल्ली लाये। २५वीं दिसम्बर १७७१ को शाह आलम ने वर्षों के बाद पुनः दिल्ली में प्रवेश किया। रास्ते में इन्होंने सिन्धिया को एक स्वरचित दोहा सुनाया जिसका अर्थ यह था कि मैंने अपने को तुम्हारे सुपुर्द कर दिया अब तुम ऐसा करो जिससे कि मेरी प्रतिष्ठा बनी रहे; और इसमें सन्देह नहीं कि सिन्धिया ने उनकी मान-मर्यादा की पूरी तरह रक्षा की। जाबित यद्यपि दिल्ली से भाग चुका था फिर भी बादशाह का पुनः राजासन पर लौटना, उसके लिए एक ऐसी घूँट थी जिसे पीने में वह असमर्थ था। दिल्ली पर आक्रमण करने के प्रयत्न में लगा रहा। रुहेले आदि अफ़ग़ानों को उभाड़ा पर सफल न हो पाया। सिन्धिया के साथ उसकी कई झपटें हुईं पर वह कामयाबी न हासिल कर सका। इसी बीच दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, पेशवा का अचानक शरीर-त्याग, तथा शाह आलम का जाबित के साथ प्रक्षिप्त रूप से सन्धि-प्रयत्न। पेशवा की मृत्यु का संवाद पाकर माधो जी फौरन पूना

के लिए रवाना हो गये। किन्तु माधो जी का नियन्त्रण दिल्ली पर से हट न सका, वर्षों तक दिल्ली का वास्तविक शासन सिन्धिया के ही हाथों रहा। पर उसके विरुद्ध मुसलमानों का एक जबर्दस्त संगठन काम करता रहा और उनका अधिक समय उनके साथ लड़ाइयाँ लड़ने में ही बीता। ऐसे ही एक युद्ध में वह व्यस्त थे, आगरे के क़िले के पठानों से बचाने में, जबकि जाबित का पुत्र ग़ुलाम क़ादिर ने सहसा दिल्ली पर हमला कर दिया। पहली बार असफल रहा। पर उसने प्रयत्न न छोड़ा और अन्त में क़िले तक आ पहुँचा। बादशाह ने बेग़म समरु[1] की मदद से उसकी प्रगति रोकने की भरपूर चेष्टा की पर सफल न हो पाये। बादशाह के उत्तराधिकारी शाहज़ादा मिर्ज़ा जवान बख़्त ने जो सिन्धिया के प्रभाव से अपने पिता को मुक्त कराना चाहता था, अंग्रेज़ों से दोनों के ख़िलाफ़ सहायता की याचना की, लार्ड कर्नवालिस के पास संवाद भेजे और अन्त में बादशाह जार्ज द्वितीय के पास तक खत भेजकर मदद माँगी पर इसे पाने में वह कामयाबी हासिल न कर सका और अन्ततोगत्वा काशी चला गया। वहीं कुछ दिनों के भीतर ही उसकी मृत्यु भी हो गई। अन्ततः शाह आलम को हार मानकर ग़ुलाम क़ादिर के साथ समझौता करना पड़ा जिसके अनुसार क़ादिर को अनिच्छा होते हुए भी बादशाह को अमीर अल-अमर का पद प्रदान करना पड़ा और इस प्रकार क़ादिर की वर्षों की तमन्ना पूरी हुई। पर क़ादिर को इतने से ही सन्तोष न हुआ। उसने सुन रक्खा था कि बादशाह के पास बड़ी दौलत है, ख़ज़ाने भरे पड़े हैं। अतएव वह एक दिन, पद-प्राप्ति के चन्द दिनों के भीतर ही, बादशाह के महल में आ पहुँचा और ख़ज़ाने की चाभी माँगी। शाह आलम के अस्वीकार करने पर उसने उन्हें बन्दी किया और सारे कमरे खुदवा डाले, बेग़मों के कपड़े उतरवाये, कोड़े लगाये और बार-बार बादशाह से यही पूछता रहा कि बताओ दौलत कहाँ गड़ी है? शाह आलम बताये कहाँ, कहीं दौलत हो भी तो। अतः क्रोधावेश में आकर उसने उन्हें भी कोड़े लगवाये तथा उनकी दोनों आँखें फोड़ डालीं। लेख के आरम्भ में ही शाह आलम का जो कलाम उद्धृत है वह तभी लिखा गया था। माधो जी सिन्धिया को जब यह ख़बर मिली तो फौरन बादशाह की

१. देखिये परिशिष्ट (३)।

मदद को उन्होंने सेना भेजी । बेग़म समरु ने भी । दोनों सेनाओं ने मिलकर क़िले पर आक्रमण किया । क़ादिर बचाव का कोई उपाय न देखकर शाह-दरा की ओर भाग चला, चलते-चलते क़िले में रखी हुई बारूद के ढेर में आग लगाता गया । वह्नि-शिखाएँ दूर-दूर तक उठने और हुँकार भरने लगीं । शहर के लोग भयंकर आवाज़ सुनकर भय और आतंक से काँप उठे, सोचें, क्या पुनः नगर को नादिरशाह के दिन देखने पड़ेंगे ? सारे शहर में एक भगदड़-सी मच गई । पर सिन्धिया के प्रधान सेनानायक राना खाँ ने, जिसने पानीपत से भागे हुए माधो जी के प्राण बचाये थे तथा जिसके पुरस्कारस्वरूप सिन्धिया ने उसे अपनी सेना का नायक बहाल किया था, फ़ौरन क़िले पर कब्जा कर फैलती हुई अग्नि-ज्वाला शान्त कर दी । इन सारे कामों में सिन्धिया को पूना दरबार की पूर्ण स्वीकृति थी ।

मराठी सेना ने क़ादिर का पीछा किया, क़ादिर भागता हुआ मेरठ जा पहुँचा तथा क़िले में घुसा, साथ-साथ उसकी बची-खुची फ़ौज भी । मराठों ने क़िले को दो महीनों तक घेर रखा; अन्ततः खाद्य-पदार्थों की कमी से विवश होकर कादिर घोड़े पर सवार हो वहाँ से भी भाग निकला । मराठों को इसकी टोह न मिल सकी, पछताते रहे, पर विधि के विधान को कौन बदल सका है ! पड़ौस के गाँववालों ने भागते हुए क़ादिर को घेरा और उसे गिरफ़्तार कर मराठों के पास ले आये । राना खाँ ने सैनिकों के कड़े पहरे में उसे मथुरा, जहाँ सिन्धिया ठहरे हुए थे, प्रेषित किया ताकि उसे उनके द्वारा समुचित दण्ड प्रदान हो पर इसका मौक़ा न आ सका । रास्ते में उसने सिपाहियों को गालियाँ दीं, झगड़ा कर बैठा, बदले में सिपाहियों ने उसकी आँखें फोड़ डालीं, शरीर के अंग-प्रत्यंग काट डाले और अन्त में पथ-पार्श्व-वर्ती एक वृक्ष में टाँग उसे मार्च ३, १७८९ को फाँसी दे डाली । और वह इस प्रकार अपने पाप-दण्ड का भागी बना ।

सिन्धिया की आज्ञा से उसका मस्तक-रहित शरीर दिल्ली लाकर नेत्रहीन बादशाह के आगे रख दिया गया । अब प्रश्न शाह-आलम के पुनः गद्दी पर बिठाये जाने का था । इस्लाम के नियमानुसार कोई नेत्रहीन व्यक्ति सुलतान-पद पर आसीन नहीं हो सकता है । सिन्धिया ने, पर, यह कहकर कि राज्य का संचालन मैं किया करूँगा उन्हें पुनः तख़्त पर बिठाया तथा अपनी एवं पेशवा की ओर से उन्हें सलामियाँ दीं । H. De Boigne

ने इसके कुछ दिनों के बाद लिखा था कि—

"Shah Alam was still revered as the source of power and the fountain of honour in the entire peninsula and Sindhia participated in the reverence."

अर्थात्, "शाह आलम अब भी शक्ति और सम्मान के उद्गम संस्थान माने जाते थे और सिन्धिया ने इस रीति को कायम रखा।" बादशाह के पॉकेट खर्च के लिये सिन्धिया ने ९ लाख रुपये सालाना की व्यवस्था की। बादशाह के राजनैतिक अधिकार यद्यपि अब समाप्त से हो चुके थे फिर भी समाज में बादशाह के प्रति इतनी इज़्ज़त और सहानुभूति थी कि सल्तनत के सारे काम शाह आलम के ही नाम से किये जाते रहे, यहाँ तक कि खुद ईस्ट इंडिया कम्पनी भी, जिसकी बंगाल में पूर्ण सत्ता स्थापित हो चुकी थी, शाह आलम के नाम से ही सिक्के निकालती रही। १८१५ में लार्ड मायरा ने दिल्ली जाने से इसलिये इन्कार किया था कि शाहआलम के उत्तराधिकारी बादशाह अकबर सानी को उससे बराबरी के स्तर पर मिलना स्वीकार न था।

सिन्धिया तथा पेशवा दोनों ही शक्तिशाली होकर भी दिल्ली बादशाह की अधीनता मानते रहे, हालांकि बादशाह उनके हाथों के कठपुतला हो चुके थे, चूँकि जनमत की अवहेलना करना उनके लिए संभव न था।

माधो जी सिन्धिया ने उपर्युक्त प्रकार से मुगल बादशाह को पुनः जीवन-दान दिया। शाह आलम ने बदले में उन्हें "मदार-अल-मुहिम आलीजाह बहादुर" की उपाधि प्रदान की। माधो जी सिन्धिया उन लोगों में हैं जिनके सम्बन्ध में इतिहासकारों के बीच काफी मतान्तर रहा है। वह अच्छे रहे हों या बुरे, पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि तत्कालीन राजनैतिक चित्रपट पर उनका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा तथा एक अर्से तक उत्तर तथा मध्य-भारत के मामलों में उनकी आवाज सबसे ज़्यादा बुलन्द रही। फिर भी उन्होंने सारे काम पेशवा के नाम पर किये, अपने आपको पेशवा का भृत्य ही कहा और उनके सामने जब कभी भी गये, एक साधारण नौकर की भांति, पेशवा के पाँव के जूतों के साथ*। यह उनकी दूरदर्शिता, शिष्टता एवं विलक्षण राजनीतिज्ञता का द्योतक था।

* सिन्धिया के पूर्वज पेशवों के जूते उठाया करते थे; माधो जी ने इस प्रथा को सांकेतिक रूप में कायम रक्खा।

८

अकबर शाह सानी

शाह आलम तथा माधोजी सिन्धिया की सारी चेष्टाओं के बावजूद भी अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में उत्तरोत्तर शक्तिशाली होते गये, न तो शाह आलम मुग़ल सल्तनत की लुप्तप्राय शक्ति का पुनरोद्धार कर सके और न सिन्धिया अंग्रेज़ों को दबा पाये। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शाह आलम से बंगाल-बिहार की दीवानी हासिल की और इस प्रकार अपनी सत्ता को वैधानिक रूप दिया पर शाह आलम के दिवंगत होने के साथ-साथ ही उसकी मुग़ल बादशाह सम्बन्धी नीति में घोर परिवर्तन आ पड़ा। दर असल शाह आलम के जीवन-काल में ही मुग़ल बादशाह के सामने असमानता का पोज़ीशन—स्थिति--उन्हें, अंग्रेज़ों को, असह्य-सा हो चला था तथा उनमें शक्ति-पद का आविर्भाव साफ़-साफ़ परिलक्षित था। वारेन हैस्टिंग्स् ने तो साफ़ शब्दों में कहा था कि वह बादशाह के साथ सिवाय बराबरी के और किसी हैसियत से मिलने में नितान्त असमर्थ है और यही कारण था कि वे दोनों आपस में मिल न पाये। यही नहीं, वेलेस्ली ने शाह आलम के उस प्रस्ताव का जिसमें उन्होंने अपनी वार्षिक 'वृत्ति' बढ़ाने पर ज़ोर दिया था, कोई ख़्याल न किया, टालमटोल करता रहा। फिर भी शाह आलम के जीवन-पर्यन्त अंग्रेज अधिकांशतः चुप-से ही रहे, समानता—असमानता का प्रश्न एक सीमित दायरा के अन्दर पड़ा रहा तथा मुग़ल बादशाह के बाहरी ठाट-बाट में विशेष अन्तर न आ सका।

शाह आलम के परलोकगत होते ही दो प्रश्न विशेष रूप से उठ खड़े हुए——मुग़ल बादशाह तथा अंग्रेज़ी सल्तनत के पारस्परिक सम्बन्ध का तथा बादशाह की वृत्ति का। अंग्रेज गवर्नर-जनरल को अब यह मंजूर न था कि वह एक ऐसे बादशाह के साथ जो कि वस्तुतः अंग्रेज़ों के पेन्शन-याफ़्ता की दशा को प्राप्त थे, सिवाय समानता के किसी और—निम्न—हैसियत से मिले। इधर मुग़ल बादशाह शक्तिहीन होकर भी तैमूर-वंश के अपने गौरव को सहसा त्यागने में असमर्थ थे और बार-बार यही चेष्टा
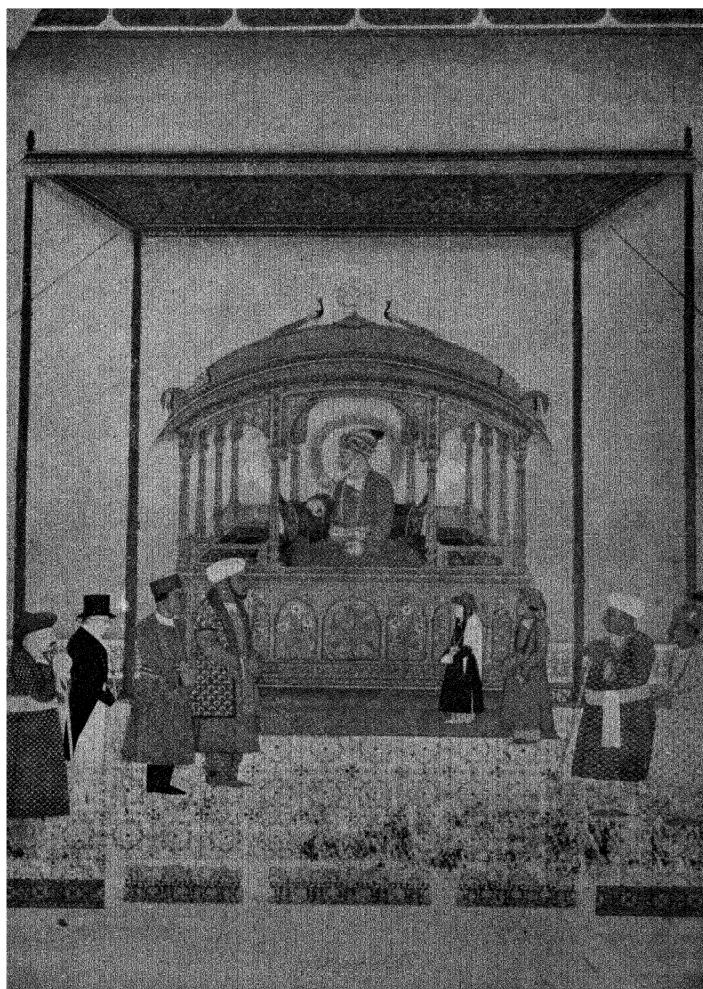
बादशाह् अकबर सानी का दरबार, अंग्रेजी रेजिडन्ट और उसकी पत्नी के साथ।

करते रहे कि कम-से-कम नाम को ही सही, उनका स्थान अंग्रजों के ऊपर रहे—अंग्रेज उनके अधीन ही माने जाते रहें।

शाह आलम की मृत्यु १८०६ में हुई और उनके द्वितीय पुत्र—प्रथम पुत्र का देहावसान हो चुका था—अकबर गद्दी पर बैठे। शाह आलम से वह बिल्कुल ही भिन्न थे, न उनमें साहित्यिक प्रतिभा थी न कूटनीतिज्ञता, पर साधु-स्वभाव थे और इसी कारण से बेगमों के प्रभावाधीन। शासन-नीति वास्तव में शाही घराने की तीन बेगमें चला रही थीं—बादशाह की मा क़ुदसिया बेगम, उनकी सर्वप्रिय पत्नी मुमताज़ महल तथा उनकी चाची दौलतुननिसा बेग़म। अंग्रेज़ रेज़िडेन्ट तक के साथ चिलमन की ओट से ये बेगमें ही विचार-विमर्श, राय-मश्विरा, किया करती थीं, बादशाह अधिकतर चुप ही रहा करते थे। हालफर्ड (Holfard) ने लिखा है—'बादशाह बात-चीत में बहुत कम हिस्सा लेते हैं, पर यदा-कदा ऐसी बातों का जिनका सम्बन्ध उनके निजी भाव अथवा इच्छाओं से होता है स्पष्टीकरण अथवा समर्थन कर डालते हैं।

ईस्ट इंडिया कम्पनी पर मुग़ल बादशाह के प्रभुत्व-प्रदर्शन की इन बेगमों ने बारम्बार चेष्टाएँ कीं पर समय बदल चुका था, देश की रूपरेखा, नक्शा, ही अब कुछ और थी, ख़ासकर मराठों की पराजय के कारण; अतः अपने इस प्रयत्न में वे कामयाबी न हासिल कर सकीं, बार-बार असफल होती रहीं।

मुमताज़ बेग़म के सबसे छोटे शाहज़ादे मिर्ज़ा जहाँगीर थे, बादशाह के तृतीय पुत्र। उनकी इच्छा थी कि वही गद्दी के भावी उत्तराधिकारी घोषित किये जायँ, तैमूर-वंशी रिवाज के यह बिल्कुल अनुकूल भी था, पर अंग्रेज़ इसके विरुद्ध थे, वे ज्येष्ठ शाहज़ादा मिर्ज़ा अबुल ज़फ़र को चाहते थे। सर्वप्रथम इस प्रश्न को लेकर ही एक सैद्धान्तिक झगड़ा उठ खड़ा हुआ। बहैसियत एक स्वतन्त्र शासक के बादशाह को यह अधिकार था कि वह जिसे भी चाहें अपना भावी उत्तराधिकारी निर्धारित करें पर बहैसियत एक पेन्शनर के उन्हें यह अधिकार न था, संरक्षक शासन की स्वीकृति आवश्यक थी। अकबर शाह ने दूसरी स्थिति को अस्वीकार करते हुए, अंग्रेज़ सरकार के विरोध की उपेक्षा करके, मिर्ज़ा जहाँगीर के अभिषेक-तिथि की घोषणा कर दी। गवर्नर-जनरल को इसकी सूचना देते हुए एक

पत्र भेजा जिसमें उन्हें प्राचीन प्रणाली के अनुसार "सबसे प्यारा पुत्र और भृत्य" कह कर संबोधित किया, जैसा कि सभी बादशाह आज तक करते आये थे। लार्ड मिन्टो ने, पर, मिर्ज़ा जहाँगीर को स्वीकार न किया और रेज़िडेन्ट को यह आदेश भेजा कि वह उपर्युक्त जलसे में शामिल न हों। यही नहीं, जिस ढाँचे पर वह पत्र लिखा गया था उस ढाँचे पर लिखे गये पत्रों को भविष्य में स्वीकार करने में अपनी असमर्थता भी प्रकट की और रेज़िडेन्ट के द्वारा यह कहला भेजा कि अब समय आ गया है जबकि मुग़ल बादशाह तथा अंग्रेज़ सरकार के बीच के वास्तविक वैधानिक सम्बन्ध का निर्णय हो जाय। गरज़ यह कि अंग्रेज़ अब मुग़लों की नाम मात्र की अधीनता भी स्वीकार करने को तैयार न थे।

इसके कुछ ही दिनों के बाद बादशाह ने शाह हाजी नामक अपने एक प्रतिनिधि के द्वारा कलकत्ते बड़े लाट के पास एक खिल्लत (एक प्रकार की पोशाक—मुग़ल आधिपत्य का एक चिह्न) भेजा, जिसे लार्ड मिन्टो ने मैत्री के एक चिह्न के रूप में ख़ानगी तौर पर लेना स्वीकार किया। पर शाह हाजी ने इस बात को गुप्त न रखा, सारे शहर में ढिंढोरा पीट दिया, कहा—"मुल्क के कुछ और सामन्तों को भी इसी प्रकार के ख़िल्लत दिये जाने वाले हैं।" बड़े लाट ने इस पर रुष्ट होकर इसे लेने से अस्वीकार कर दिया और इस प्रकार अंग्रेज़ों पर मुग़ल-आधिपत्य प्रदर्शन का यह अंतिम उद्योग भी असफल रहा। लार्ड मिन्टो ने भविष्य में मुग़ल बादशाह के किसी प्रतिनिधि को बहैसियत राजदूत के स्वीकार करने में भी अपनी असमर्थता प्रकट की। बेगमों को इस सम्बन्ध में भी एक सूझ आयी, उन्होंने राजा प्राणकृष्ण नामक एक व्यक्ति को रेज़िडेंट के बग़ैर जानकारी के कलकत्ते भेजा, जहाँ से वह विलायत जाकर इंगलैंड के बादशाह के समक्ष मुग़ल राजदूत के रूप में उपस्थित होने वाले थे। पर उनके कलकत्ते पहुँचते-पहुँचते ही यह बात खुल गई और लार्ड मिन्टो ने राजा प्राणकृष्ण के अधिकार की मुहर बारेयाम छिनवा डाली तथा बादशाह का लिखा हुआ पत्र उनसे छीन कर रेज़िडेन्ट के पास दिल्ली भेज दिया।

तदुपरान्त क़ुदसिया बेग़म मिर्ज़ा जहाँगीर को साथ ले स्वयं लखनऊ गईं तथा नवाब-वज़ीर से सहायता की याचना की। यह भी लार्ड मिन्टो से छिपा न रह सका और उन्होंने इस बार बादशाह के एलावेंस
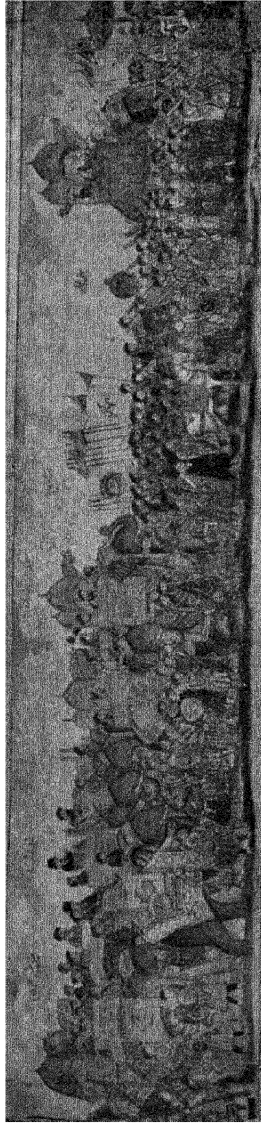
बादशाह अकबर सानी के जलूस का एक दृश्य

(वृत्ति) की वृद्धि तब तक के लिए रोक दी जब तक कि वह उपर्युक्त सभी कामों के लिए खेद न प्रकट करें। लार्ड मिन्टो ने अपने एक खत में जो कि कम्पनी के डायरेक्टरों के नाम लिखा गया था, लिखा कि "अकबर शाह बादशाह के इन सभी कामों से यह साफ़ ज़ाहिर है कि वह मुग़लों की प्रभुता को, शक्ति को, पुनः स्थापित करना चाहते हैं, कम्पनी की संरक्षता में रहकर नाम मात्र की ऊँची स्थिति तथा सम्मान से ही उन्हें संतोष नहीं है।"

लार्ड मिन्टो के कथनानुसार मुग़ल बादशाह क़िले में एक पूर्ण-स्वतंत्र सम्राट् थे पर बाहर उनकी स्थिति वही थी जो कि भारतवर्ष के अन्य राजाओं की। कम्पनी के डायरेक्टरों ने भी आगे चल कर अपने एक पत्र में यही विचार प्रकट किये थे, लिखा था—

"We conceive that our power in India is at this day of a character too substantial to require that we should resort to the hazardous expedient of endeavouring to add to its stability by borrowing from the King of Delhi any portion of authority which we are competent to exercise in our own name."

सारांश यह कि ब्रिटिश शक्ति अब इतनी मजबूत हो गई है कि उसे दिल्ली के बादशाह से किसी प्रकार के अधिकार लेकर काम करने की आवश्यकता नहीं रह गई है।

उपर्युक्त घटनाओं से—तथा तत्कालीन कागज़ों, कम्पनी के 'डिसपेचों' से—यह साफ़ लक्षित है कि अब अंग्रेज़ मुग़ल बादशाह को अपना स्वामी मानने को, तैमूर-वंश की अधीनता स्वीकार करने को, किंचित तैयार न थे, पर साथ ही वे बादशाहत को निर्मूल करने—समाप्त करने—के लिए भी प्रस्तुत न थे, कारण सत्ताहीन होते हुए भी मुग़ल बादशाह का स्थान तत्कालीन समाज में वही था जो कि सौ साल पूर्व—अर्थात् समाज का वह आज भी, सांस्कृतिक दृष्टि से, नेतृत्व कर रहे थे। समाज में उनके प्रति आदर, सम्मान और भक्ति पूर्ववत् विद्यमान थी और लोग अब भी उनके दर्शन को दौड़ते थे। इस पुस्तक में अन्यत्र बादशाह अक़बर सानी के एक जुलूस का चित्र है जो इस परिस्थिति का द्योतक है। इस चित्र में पाठक देखेंगे कि अंग्रेज़ रेज़िडेन्ट शाहज़ादा के पीछे है, आगे नहीं, तथा एक दूसरे चित्र में जो अक़बर शाह सानी के ही दरबार का है वह अन्य दरबारियों की ही भाँति प्रचलित प्रथानुसार, आँखें नीची कर खड़ा है।

पर साथ ही, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, कम्पनी की सरकार के दृष्टिकोण में अब काफी अन्तर आ चुका था और उसे मुग़लों का आधिपत्य—चाहे वह नाम-मात्र को ही क्यों न हो—स्वीकार करना एक ऐसी घूँट थी जिसे पी जाना कठिन हो रहा था। जब तक शाह आलम ज़िन्दा रहे, यह झगड़ा लार्ड वेलेस्ली और उनके बीच चलता रहा पर चूँकि उस समय तक अंग्रेज़ों को मुगलों की मदद की ज़रूरत थी, दाव-पेंच चलते रहे, पर यह संगीन रूप न पकड़ सका। शाह आलम की मृत्यु तक यही स्थिति रही। पर उनके उत्तराधिकारी अकबर सानी के गद्दी पर बैठते ही यह प्रश्न जोरों से उभड़ आया। बादशाह तथा बेगमों के प्रयत्नों के सम्बन्ध में पीछे लिखा जा चुका है—वे जारी रहे, और जब गुर्खों के युद्ध के सिलसिले में लार्ड हैस्टिंग्स् दिल्ली की ओर गये और बादशाह से मिलना चाहा तो अकबर शाह ने कहा कि मैं उनसे तभी मिल सकता हूँ जब कि वह बहैसियत एक रिआया के मुझसे मिलें और 'नज़र' पेश करें। लार्ड हैस्टिंग्स् इसके लिए तैयार न हुए और इन दोनों की इसलिए भेंट न हो पायी। 'नज़र' देने के इस प्रश्न ने धीरे-धीरे एक बड़े महत्त्व का रूप धारण कर लिया। बादशाह को बगैर 'नज़र' के मिलना मंज़ूर न था, इधर गवर्नर-जनरल 'नज़र' देने को तैयार न थे चूँकि 'नज़र' देने का अर्थ बादशाह की अधीनता स्वीकार करनी थी। सन् १८२६ में जब लार्ड एमहर्स्ट दिल्ली गये तो पुनः यह मसला उठ खड़ा हुआ पर अन्त में इस समस्या का समाधान तत्कालीन रेज़िडेन्ट सर चार्ल्स मेटकाफ के एक सुझाव ने किया। इसके अनुसार लार्ड एमहर्स्ट जब बादशाह से मिलने गये तो कोई 'नज़र' न दी और तख्त की दाहिनी ओर बैठे, बाक़ी लोग खड़े रहे। बादशाह ने उन्हें मोती की एक माला भेंट दी और दरवाज़े तक पहुँचा आये। फिर रेज़िडेन्सी में जब बादशाह वापसी मुलाकात में गये तो इसी प्रणाली का उपयोग किया गया, इस बार लार्ड ऐमहर्स्ट ने उन्हें बतौर भेंट के कुछ सामान अर्पित किये।

अक़बर शाह ने सोचा था कि उनके 'नज़र' के प्रश्न पर नीचे उतर आने से कम्पनी-सरकार उनकी वृत्ति-वृद्धि की माँग को आसानी से स्वीकार कर लेगी पर यह न हुआ और इससे उन्हें बड़ी निराशा और आक्रोश हुए, फलतः सन् १८३१ ई० में लार्ड बेन्टिक से मिलना उन्होंने नामंज़ूर कर दिया।

अब सिवाय इसके कि कम्पनी-सरकार के खिलाफ इंगलिस्तान के बादशाह के पास अपील की जाय, कोई दूसरा चारा न रहा। प्रसिद्ध बंगाली समाज-सुधारक एवं ब्रह्मधर्म प्रचारक, राममोहन राय इस काम के लिए सबसे श्रेष्ठ एवं उपयुक्त, निपुण, समझे गये। इंगलिस्तान के बादशाह के दरबार में वह मुग़ल सम्राट् के राजदूत मनोनीत हुए तथा उन्हें अकबर शाह ने 'राजा' की पदवी से विभूषित किया। १८२९ की फरवरी में उन्होंने विलायत जाने के अपने वास्तविक उद्देश्य की घोषणा की। बादशाह विलियम को दिये जाने वाले स्मृति-पत्र की एक प्रति भी गवर्नर-जनरल के पास भेज दी। कम्पनी-सरकार के बीच एक खलबली-सी मच गई। रेज़िडेन्ट को आदेश मिले कि वह बादशाह के पास फौरन जाकर कम्पनी पर जो ग़लत, आधारहीन, आरोप लगाये जा रहे हैं, उनके सम्बन्ध में खेद तथा आश्चर्य प्रकट करे। यही नहीं, उन्होंने राममोहन राय के प्रतिनिधि-पद, राजदूतत्व, तथा प्रदत्त राजा की उपाधि को स्वीकार करने से भी साफ इन्कार कर दिया——हालांकि पूर्व-समझौतों के अनुसार बादशाह को यह पूरा अधिकार था कि वह जिसे चाहे उपाधि प्रदान कर सकें।

अकबर शाह, पर, कम्पनी-सरकार के इस रुख से तनिक भी विचलित न हुए और राजा राममोहन राय ने निर्धारित समय पर इंगलिस्तान के लिए प्रस्थान किया। विलायत पहुँच कर उन्होंने अपनी बातें पेश कीं। ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टर्स उनकी इस यात्रा से स्वभावत: अत्यन्त रुष्ट नज़र आये, पर ब्रिटिश सरकार में नाराजी नहीं बल्कि प्रसन्नता के भाव थे, खासकर सर चार्ल्स ग्रेन्ट में जो कि बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सदर थे। राममोहन राय के पद और उद्देश्य को उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया तथा स्मृति-पत्र को बादशाह विलियम चतुर्थ के सामने रखा। लन्दन के तत्कालीन समाज में राजा राममोहन राय ने एक तूफान-सा ला दिया, चूँकि उनकी ख्याति वहाँ पहले ही पहुँच चुकी थी और शिक्षित-समाज में काफी ऐसे लोग थे जो उनसे मिलने को समुत्सुक थे।

राजा राममोहन राय ने जिस स्मृति-पत्र को तैयार किया था वह एक अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक लेख था तथा उन्होंने कई ऐसे सुझाव सरकार के समक्ष रखे जो बुद्धिमत्ता से ओतप्रोत थे और ऐसे थे जिनसे सरकार एवं अकबर शाह दोनों की ही सन्तुष्टि होती थी। सन्

१८०३-४ में लार्ड लेक तथा बादशाह शाह आलम के बीच जो समझौता हुआ था उसे किस प्रकार तोड़ने-मरोड़ने की चेष्टाएँ कम्पनी की ओर से होती रहीं—बादशाह को किस तरह धोखे में रखा गया—ये सारी बातें उन्होंने इस निपुणता के साथ रखीं कि कम्पनी के डायरेक्टर्स घबड़ा-से गये पर—

मेरे मन कछु और है, कर्त्ता के कछु और !

विधाना वाम थे, पेश्तर इसके कि इंगलिस्तान की सरकार इन बातों पर कोई निर्णय करे, विलायत में ही राजा राममोहन राय परलोक-गत हो गये और थोड़े दिनों के भीतर ही स्वयं बादशाह अक़बर सानी भी, और सारी बातें ज्यों-की-त्यों, अनिर्णीतावस्था में, रह गयीं ।

बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के सदस्यों ने राजा राममोहन राय के द्वारा लगाये गये आरोपों का जी-तोड़ विरोध किया । बोले, ये सारी बातें झूठी हैं और विद्वेष की भावना से सराबोर हैं । पर सर चार्ल्स ग्रेन्ट इन बातों से प्रभावित न हो सके, उनकी न्याय और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से क्रोधापन्न होकर उन्होंने कहा—

"असम्भव है कि जिन्हें विषय का तनिक भी ज्ञान है वे मुग़ल बाद-शाह के पत्र तथा राममोहन राय की बातों में सिवा असत्य एवं कीचड़ उछालने की चेष्टा के और कुछ देख सकें..."

ग्रेन्ट ने इस ख़त के बग़ल में पेंसिल से लिखा—"क्या ये सारे कागजात निर्मूल तथा कीचड़ उछालने वाले हैं ?" और उनके विरोध पर महदाश्चर्य प्रकट किया ।

तात्पर्य यह कि यदि विधाता ने राजा राममोहन राय को धारा के मध्य से ही उठा न लिया होता तो शायद उनका उद्देश्य सफल होकर ही रहता, पर यह न हुआ ।

दिल्ली बादशाह के लिए व्यय और प्रतिष्ठा-प्रदान ये दो बातें अंग्रेजों की नज़र में शाह आलम के देहावसान के बाद से ही खटकती आ रही थीं, पर कुछ तो परिस्थितियों से मजबूर होकर और कुछ सेटन, मेटकाफ आदि जैसे रेज़िडेन्टों के कारण ये दोनों बातें पूर्ववत् बनी रहीं । पर नये रेज़िडेन्ट हाकिन्स ने आकर इनके संबंध में 'नुकते-निगाह' बदला, नीति-परिवर्तन की चेष्टा की । क़िले की मरम्मत पर पैसे ख़र्च किये जायँ इसका घोर विरोध किया, 'नज़र' देने को बेइज़्ज़ती समझा तथा जब 'नज़र' देने

का अवसर आया तो बजाय दोनों हाथों के एक हाथ से नज़र दी। बेगमों के सामने खड़े होने से इन्कार किया तथा सिवाय बादशाह के औरों के लिखे हुए 'सुक्के' को ग्रहण करने में असमर्थता प्रकट की, लिखा—"राजवंश के सभी रेजिडेन्ट को नौकर समझते हैं और शान के साथ उसके पास फर्मान भेजते हैं—मैं इसे बर्दाश्त करने को कतई तैयार नहीं हूं।"

हाकिन्स के पहले भी कई अवसरों पर कम्पनी-सरकार ने अपने रेज़िडेन्टों को आदेश भेजे थे कि वह बादशाह के सामने अत्यधिक सम्मान-प्रदर्शन न करें—ज्यादा न झुकें—पर बादशाहों के व्यक्तित्व तथा सामाजिक प्रभाव के कारण वे बावजूद इन हिदायतों के भी, उनके रोब में आ पड़े तथा इन आदेशों के खिलाफ पूर्व-सा ही सम्मान-प्रदर्शन करते रहे, पर हाकिन्स ने आकर परिवर्तित नीति की नींव डाली। समाज में किन्तु अब भी मुग़ल दरबार का कुछ ऐसा प्रभाव था, कि वह इस नीति-परिवर्तन में पूरी तरह कामयाबी हासिल न कर सका। कम्पनी के अफ़सर तथा अन्यान्य अंग्रेज पूर्व ढंग से ही 'नज़र' देते रहे, जैसाकि अन्यत्र दिये हुए विशप हीबर आदि यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्तों से प्रतीत होगा।

बादशाह अक़बर सानी उन लोगों में थे जिनके सम्बन्ध में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि ऊपर से नीचे तक वह शराफत-सज्जनता से भरे हुए, भलमनसाहत के पुतले, थे। एक अंग्रेज लेखक के ही शब्दों में—"अकबर अपने पिता की अपेक्षा कम प्रभावशाली थे, पर अपने वंश के बड़प्पन तथा संस्कृति से परिपूर्ण थे—शारीरिक बल से भी।......... तख्तनशीन होने तक वह वृद्ध हो चुके थे, फिर भी जीवन के अंतिम चन्द बरसों तक वह ओजस्वी बने रहे।"

अकबर शाह की, किन्तु, कोई भी अभिलाषा पूर्ण न हो पायी—न तो वह मुग़ल बादशाहत के प्राचीन आधिपत्य की स्थिति को पुनर्जीवित करा सके और न अपने एलावेंस (वृत्ति) में वृद्धि ही। किसी अज्ञात कवि के शब्दों में—

जहाने आरज़ू का खून ही होता रहा मेरे,
"तमन्ना ही रही कोई तमन्ना मेरी बर[1] आती"

की स्थिति का भार लिए ही इस संसार से विदा हुए।

१. बर=पूरा।

९
विलियम फ्रेजर की हत्या

बादशाह अकबर सानी के जीवन-काल में ही ईस्ट इंडिया कम्पनी की सत्ता दिल्ली में पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी, उनके मरणोत्तर यह और भी दृढ़ हो गयी और बादशाह—बहादुर शाह जफर—का स्वत्वाधिकार किले तक ही सीमित रहा। पर अंग्रेजों के प्रति विद्वेष के भाव बने रहे, दुश्मनी की आग अन्दर-अन्दर सुलगती रही, यदा-कदा मौका पाकर उभड़ी भी। बड़े लाट के दिल्ली-स्थित एजेन्ट विलियम फ्रेजर की हत्या ऐसी ही एक सनसनी खेज घटना थी जो उक्त परिस्थिति का द्योतक भी है।

विलियम फ्रेजर की हत्या, अंग्रेजों के कथनानुसार फिरोजपुर (पंजाब) के नवाब शमसुद्दीन खाँ के इशारे पर उनके एक एजेन्ट करीम खाँ ने रात में जबकि वह घोड़े पर सवार किशनगढ़ के राजा के घर से दावत खाकर लौट रहे थे, गोली मार कर की। कहते हैं, नवाब के घरेलू झगड़े में फ्रेजर की सहानुभूति उनके विरोधी भाइयों के साथ होना ही इसका कारण था।

हत्या के कुछ ही साल पहले फ्रेजर ने नवाब का फिरोजपुर में आतिथ्य ग्रहण किया था और लिखा था—मैंने कुछ घुड़सवारों को अपनी ओर आते देखा जिसका नेतृत्व एक सुन्दर नवयुवक कर रहा था जिसे पहचानने में मुझे देर न लगी--वह स्वयं नवाब थे। हम दोनों पूर्वीय रीति से एक दूसरे से गले-से-गले मिले···और फिर घोड़े पर सवार होकर उस मनोरम मकान पर आये जहाँ बैठा हुआ मैं यह खत लिख रहा हूँ। मैं ज्योंही बाग के फाटक पर उतरा, किले से बन्दूक दागे गये···"

पर यह दोस्ती ज्यादा दिनों तक कायम न रह सकी चूंकि कुछ दिनों के बाद जब नवाब दिल्ली आये और फ्रेजर से मिलने गये तो उसने मिलने से इन्कार कर दिया।

फ्रेजर की हत्या का संवाद शहर में जंगल की आग की तरह फैल गया और एक आतंक-सा छा गया। टामस् मेटकाफ—जिसकी याद आज

भी दिल्ली का एक प्रसिद्ध मकान "मेटकाफ हाऊस" दिला रहा है—उन दिनों दिल्ली का रेजिडेन्ट था। उसकी लड़की मेटकाफ के पास हत्या—समाचार के पहुँचने का इस प्रकार वर्णन करती है—

"ड्राइंग रूम की बड़ी खिड़की के पास जार्जी, मैं तथा मां बैठी हुई थीं—वह हमें कुछ पढ़कर सुना रही थीं। पिता एक दूसरे घर में बैठे थे·········घर में तथा चारों ओर पूरी शान्ति विराज रही थी··········· यकायक नौकरों के बीच खलबली-सी मची हुई नज़र आयी तथा पिताजी ने तेज़ी में आकर विलियम फ्रेजर की हत्या का संवाद सुनाया और कहा कि मैं इसकी जांच-पड़ताल के लिए तुरन्त बाहर जा रहा हूँ। मुझे याद है कि मैं किस तरह इस संवाद को सुनते ही मा से लिपट गयी··········· हम लोग पिताजी की सुरक्षा के लिए चिन्तित हो उठे—यह सोचकर कि फ्रेजर के बाद संभव है पिताजी की भी हत्या कर दी जाय!············ गाड़ी के जाने की घरघराहट हमने सुनी। जब तक पिताजी घर न लौटे, हम उनकी प्रतीक्षा में बैठे रहे।"

नवाब तथा करीम खाँ पर हत्या का आरोप लगा तथा उन्हें फाँसी दे दी गयी। तमाम शहर में यह बात फैली कि नवाब का शरीर मरने के समय मक्का की ओर झुक कर गिरा। महरौली में मुग़ल बादशाह की कब्रों के पास ही उनकी भी कब्र बनी। बहुत दिनों तक लोग उनके मज़ार पर जा-जा कर सिजदा करते रहे—मानो वह किसी पीर की समाधि हो! ग़द्दर तक यह सिलसिला बना रहा।

विलियम फ्रेजर सैंट जेम्स चर्च के प्रांगण में गाड़े गये जहाँ मेटकाफ् तथा स्किनर परिवार की कब्रें भी बनीं। फेनी पार्क नामक एक व्यक्ति के कथनानुसार क़ब्र पर ये पंक्तियाँ अंकित थीं—

"Deep beneath this marble stone,
A kindred spirit to our own
Sleeps in death's profound repose,
Freed from human cares and woes;
Like us his heart like ours his frame,
He bore on earth a gallant name,
Friendship gives to us the trust,
To guard the hero's honour'd dust."

पर लेखक की वह उक्ति जो उपर्युक्त अंतिम दो पंक्तियों में निहित

है सफल न हो पायी––ग़दर के समय बलवाइयों ने फ्रेजर की क़ब्र को इस तरह तोड़ा-फोड़ा कि उसका कोई भी चिह्न शेष न रहा और आज फ्रेजर की क़ब्र कहाँ पर थी यह कहना असंभव है ।

उपर्युक्त घटनाओं से अंग्रेज़ों के प्रति विद्वेष की जो भावना लोगों के हृदय में प्रवाहित हो रही थी उसका पता चलता है––वह जो कि सन् '५७ में जोरों से उभड़ पड़ी ।

तत्कालीन दिल्ली के इतिहास की फ्रेजर की हत्या एक महत्व-पूर्ण घटना है । इसके सम्बन्ध में एक लेख उर्दू "आजकल" में प्रकाशित हुआ है जिसके विद्वान लेखक ने इस पर नयी रोशनी डालने की चेष्टा की है, लिखा है—

सल्तनत मुग़लिया के ज़वाल के ज़माने में वस्त एशिया से तीन भाई––कासिम जान, आलम जान और आरिफ जान—कुछ साथियों समेत तलाश-रोज़गार में हिन्दुस्तान आये । जब यह मुख्तसर काफला अटक पहुँचा तो यहाँ के सूबेदार मिरज़ा मुहम्मद बेग ने सबसे छोटे भाई मिरज़ा आरिफ जान से अपनी बेटी ब्याह दी और उन्हें अपने पास ठहरा लिया । लेकिन जल्द ही यह तीनों भाई यहाँ से चलकर शाह आलम सानी के अहद में (१७५६-१८०६) दारुलखिलाफा में पहुँच गये ।*

आरिफ जान के चार बेटे थे—नबी बख्श खाँ, अहमद बख्श खाँ, इलाही बख्श खाँ (मारूफ) और मुहम्मद अली खाँ । इनमें से अहमद बख्श खाँ ने रियासत ग्वालियर में फौज की नौकरी अख्तियार कर ली । यहाँ वह सवारों में मुलाज़िम थे । हालत माकूल थी, न मुफ्लिस न तवंगर । खुशअसलोबी से दिन गुज़र रहे थे । लेकिन खुदा मालूम क्या सूरत पेश आई कि वह मुलाज़मत जाती रही । उसके बाद यह घोड़ों की तिजारत करने लगे । एक मरतबा उसी सिलसिले में एक घोड़ा लेकर अजमेर गये । ख़्याल था कि उर्स के मौके पर घोड़ा माकूल कीमत पर बिक जायेगा लेकिन कोशिश के बावजूद घोड़ा फरोख्त न हुआ । उन्हें रुपयों की ज़रूरत थी और हाथ बहुत तंग था । खुदा की शान कि एक दिन दरगाह में पहुँच के तज़र्रो से दुआ की और उसके बाद घोड़ा मुँह-माँगे दामों बिक गया । अपने मकसद में काम्याबी के बाद यह शादां व फ़रहां वापस देहली आ रहे थे कि रास्ते

* दीबाचा दीवान मारूफ ।

में महाराव राजा बख्तावर सिंह वालिये अलवर से मुलाकात हो गई और उन्होंने उन्हें अपने यहाँ मुलाज़मत पेश की। यह बेकार तो थे ही इस पेशकश को बखुशी कबूल करके महाराजा के पास अलवर चले गये।[२]

जब अंग्रेज़ों और रियासत अलवर में मुआहदा हुआ तो महाराजा ने अंग्रेज़ों के यहाँ अपने मफाद की निगहदाश्त के लिये अहमदबख्श खाँ को अपना वकील मुकर्रर कर दिया। उस ओहदे की हैसियत तकरीबन वही थी जो आजकल सफीरों की होती है। यहाँ अहमद बख्श खाँ ने अपने फरायज़ मनसबी इस खुशअसलोबी से अंजाम किये कि जहाँ एक तरफ उनसे हर तरह खुश और मुतमइन थे वहाँ अंग्रेज़ों को भी उनकी मामला फहमी और हज़म व तदब्बुर पर पूरा एतमाद था। उसी ज़माने में अंग्रेजों की रियासत भरतपुर से छिड़ गई और उन्होंने डीग के किले पर चढ़ाई कर दी। अहमद बख्श ने ज़ोर लगाया कि महाराजा अलवर इस मौके पर अंग्रेज़ों का साथ दें और वह उसमें कामयाब हो गये। चुनांचे रियासत अलवर ने सवारों का एक दस्ता खुद अहमद बख्श खाँ को कमान में बतौर कुमक भेजा और सामान रसद व खोराक वगैरह से भी पूरी मदद दी।

मैदान-जंग में अंग्रेज़ सिपहसालार के गोली लगी और करीब था कि वह घोड़े से गिर पड़े कि अहमद बख्श ने लपक कर उसे सँभाल लिया और उछल कर उसके पीछे घोड़े पर सवार हो गये और लड़ते-भिड़ते उसे दुश्मनों के नरगे से निकाल लाये। लेकिन ज़ख्म ऐसा कारी था कि वह जांबर न हो सका। अलबत्ता मरने से पहले उसने उस हादसे की मुख्तसर रुदाद और अहमद बख्श को जांबाज़ी का हाल एक कागज़ पर लिखके उसके हवाले किया और अंग्रेज़ी हुकूमत से सिफ़ारिश की कि उनकी खिदमात का उन्हें मुनासिब सिला दिया जाय। यह सनद अब भी रियासत लोहारू में मौजूद है। उसी का नतीजा था कि जब फतेह का दरबार हुआ तो लार्ड लेक ने उन्हें जागीर इस्तेमरारी के तौर पर फीरोज़पुर, झरका, पूना, हाना, बिछौर, सांगरस के इज़ला अता किये और सनद में उनका नाम लिखवाया "फखरुद्दौला दिलावरे मुल्क नवाब अहमद बख्श खाँ बहादुर रुस्तमे जंग" महाराजा बख्तावर सिंह भी दरबार में

२. मुरक्का अलवर अज़ मुनशी मुहम्मद मखदूम थानवी।

मौजूद थे उन्होंने परगना लोहारू जो रियासत लोहारू का हिस्सा था अपनी तरफ से मरहमत फरमाया और इस तरह उसके बाद अहमद-बख्श खाँ नवाब अहमद बख्श खाँ वालिये फीरोज़पुर झरका व लोहारू हो गये।

अलवर के क़याम के दौरान में नवाब अहमद बख्श खां के पास एक औरत मुद्दी नाम की रही। उसके बतन से उनके चार बच्चे हुए, दो लड़के शमसुद्दीन अहमद खाँ और इब्राहीम अली खाँ और दो लड़कियाँ नवाब बेगम और जहांगीरह बेगम। बाद में उसी नवाब बेगम का निकाह ज़ैनुलआबदीन खाँ आरिफ से हुआ था। जहांगीरह बेगम एक ईरानी खानदान में ब्याही गई थी। उनके शौहर का नाम मुहम्मद आज़म था। यह लोग आगरे में रहते थे और मुमकिन है कि उस खानदान के नाम लेवा अब भी वहाँ मौजूद हों।

अब उन्होंने एक हम कुफ़ू बेगम से शादी कर ली, उनका नाम बेगम-जान था और एक बिरलास मुगल नयाज़ मुहम्मद बेग की बेटी थीं। उस बेगम से भी उनकी चार औलादें हुईं। अमीनउद्दीन अहमद खाँ जियाउद्दीन अहमद खाँ, माहरुख बेगम और बादशाह बेगम। बज़ाहिर शमसुद्दीन खां के वारिस रियासत होने का कोई अमकान नहीं था क्योंकि उन की वालदा नवाब अहमद बख़्श खाँ की ब्याहता बीवी नहीं थी, इसी वजह से खानदान के छोटे-बड़े एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक सब के सब उनके खिलाफ थे और उन्हें बराबर का समझते ही नहीं थे। लेकिन इसके बावजूद नवाब अहमद बख्श खाँ ने उन्हें गद्दी का वारिस करार दिया। इसका एक सबब था।

महाराजा बख्तावर सिंह के पास एक तवायफ मूसी नाम की थी और यूँ मालूम होता है कि यह औरत उस मुद्दी की बहन या कम-अज़-कम करीबी रिश्तेदार जरूर थी जो नवाब अहमद बख्श के घर में थी। मूसी से महाराजा के दो बच्चे हुए, एक लड़की चाँद बाई और एक लड़का बलवंत-सिंह। मुकामी रिवाज के मुताबिक ऐसी औलाद हक नजाबत नहीं रखती और खवास वाली कहलाती है इसलिये बलवंतसिंह के अलवर की गद्दी पर बैंठने की कोई उम्मीद नहीं थी। मुद्दी के असर के तहत या किसी और सबब से नवाब अहमद बख्श खाँ बलवंतसिंह के हामी थे। नतीजा यह हुआ

कि महाराजा के भतीजे बनेसिंह के जत्थे के लोग उनके मुखालिफ हो गये और उन्होंने इनाम व इकराम के वायदे पर एक मेव को तैयार किया कि वह उनका काम तमाम करदे। चुनाँचे एक रात जब नवाब देहली में अपनी मिलकियत नूर बाग वाके आज़ादपुर में अकेले मुकीम थे उस शकी ने उन पर सोते में हमला कर दिया। बारे वार ओछा पड़ा, जान बच गई लेकिन ज़खम बहुत शदीद आये और बांये हाथ की उंगली कट गई।*

नवाब अहमद बख्श खाँ ने शमसुद्दीन अहमद खाँ को फीरोज़पुर झरका की गद्दी पर बिठाने का फ़ैसला इस लिये किया था कि किसी तरह अलवर के लिये एक मिसाल कायम करदें और वहाँ बलवंतसिंह का हक तसलीम कर लिया जाय। लेकिन उन्हें इस मक़सद में कामयाबी न हुई और महाराजा बख्तावर सिंह के बाद उनका बिरादर ज़ादा बनेसिंह ही अलवर का हुकमरां बना दिया गया।

शमसुद्दीन खाँ से अपने खानदान को दुश्मनी नवाब अहमद बख्श से मखफी नहीं थी। इब्राहीम अली खाँ सगीरसिन ही में फौत हो गया था। अब इन्हें तशवीश थी तो अमीन उद्दीन खाँ और ज़िया उद्दीन खाँ की। क्योंकि गुमान गालिब था कि खानदान की मुख़ालफ़त का खमयाजा उन दोनों को भुगतना पड़ेगा। और शमसुद्दीन खाँ साहबे जाह व जलाल हो जाने के बाद उनकी खबर तक नहीं पूछेगा। इसलिये अहमद बख्श ने दूरअंदेशी से काम लिया और तकसीम वरासत का इंतज़ाम अपनी जिंदगी में मुकम्मिल कर दिया। उन्होंने सन् १८२२ में हुकूमत अंग्रेज़ी और दरबार अलवर की मंज़ूरी से यह फैसला किया कि उनके बाद फीरोज़पुर झरका को गद्दी पर शमसुद्दीन अहमद खाँ बैठे और लोहारू दूसरी बेगम के दोनों बेटों के हिस्से में आये। इस फैसले को पुख्ता करने के लिये उन्होंने फरवरी सन् १८२५ में शमसुद्दीन खाँ से भी एक दस्तावेज़ लिखवाई कि मैं ब तैब ख़ातिर लोहारू का परगना अपने दोनों भाइयों को देना मंजूर करता हूँ बशर्ते कि वह हमेशा मेरी इताअत करते रहें। और उस दस्तावेज़ पर जरनेल अख्तर लूनी और सर चार्ल्स मेटकाफ के दस्तख़त बतौर गवाह कराये। मोअखिरुलजिक्र उन ऐयाम में

---

*मुरक्का अलवर सफा १२८-१३२।

देहली में अंग्रेजी रेज़ीडेन्ट थे। लेकिन इसके बावजूद उन्हें इसका पूरा इतमीनान नहीं था कि शमसुद्दीन खां अपने दोनों भाइयों के हक में इन्साफ करेगा। पूरे सोच-विचार के बाद उस अंदेशे का सिदीबाब उन्होंने इस तरह किया कि सन् १८२६ में वह रियासत के कारबार से खुद-ब-खुद दस्तबरदार होगये और उस तकसीम पर उनकी हीन हयात ही अमल-दरामद शुरू हो गया। अप्रेल सन् १८२७ में नवाब अहमद बख्श खाँ का इन्तकाल हो गया। उस वक्त शमसुद्दीन अहमद खां की उम्र १८-१६ बरस के लगभग थी। अमीनउद्दीन खां ११-१२ बरस के थे और जिया-उद्दीन खां सिर्फ ७ बरस के थे।

वालिद के जीते जी नवाब शमसुद्दीन खां ने जायदाद की इस तकसीम के खिलाफ कोई आवाज़ नहीं उठाई थी। लेकिन ज्यों ही नवाब अहमद बख्श खाँ की आँखे बन्द हुई उन्होंने उन तमाम अंदेशों को दुरुस्त सावित कर दिया जो उस मरहूम के दिल में थे। अब उन्होंने सरकार को अंग्रेज़ी में दरखास्त दी कि खलफ अकबर होने की हैसियत से पूरी रियासत यानी फीरोज़पुर झरका और लोहारू दोनों बिला शिरकत ग़ैरे मुझे मिलने चाहिएँ। दूसरी औलाद को ज्यादा से ज्यादा मुकर्ररा गुजारा दिलाया जा सकता है। लेकिन उनकी दाल न गली। उन दिनों देहली में सर एडवर्ड कोल ब्रोक अंग्रेज़ी रेजीडेन्ट था और उसे तमाम हालात मालूम थे। उसने सदर में मुखालिफाना रिपोर्ट की और फैसला नवाब साहब के खिलाफ़ हो गया। इत्तफाक से उसके बाद जल्द ही कोल ब्रोक एक मुकदमे में माखुज़ होकर माजूल कर दिया गया और उसका जानशीन फ्रांस हाकन्स नवाब का गहरा दोस्त बन गया। उसने इस मामले को फिर उठाया और नवाब के नज़रिये की ताईद की और पहला फैसला मनसूख करवा के लोहारू भी उन्हें दिलवा दिया।

हाकंस की तबदीली पर सन् ३८३२ में सर विलयम फ्रेज़र रेजीडेन्ट होकर आये। यह अच्छी खासी उम्र के आदमी थे और इससे पहले भी देहली में रह चुके थे। नवाब अहमद बख्श की ज़िंदगी में उनके आपस में इतने करीबी और दोस्ताना ताल्लुकात रहे थे कि नवाब साहब की औलाद उन्हें

†ज़िक्रे ग़ालिब, सफा ७०-७१।

अपना बुजुर्ग और चचा कहकर खिताब करती थी। वह नवाब मरहूम की जायदाद की तकसीम की तफसीलात और उससे मुताल्लिक उनकी कोशिशों और अंदेशों से पूरी तरह आगाह थे। जब यह रेज़ीडेन्ट होकर आये तो कुदरती बात थी कि वह नवाब शमसुद्दीन खां की कार्रवाइयों पर नाराजी का इज़हार करते। चुनांचे उन्होंने अपने पुराने ताल्लुकात की बिना पर नवाब शमसुद्दीन खां से बरमिला कहा कि तुमने अपने दोनों भाइयों का हक गसब कर लिया है और इस तरह नवाब मरहूम की वसीयत की खिलाफ वरज़ी की है बल्कि उन्होंने ज़बानी सरज़िनिश ही पर इक्तेफा नहीं की सदर में भी लिखा कि लोहारू पर नवाब शमसुद्दीन खां का कोई हक नहीं और पहला फैसला बहाल करके लोहारू उनके दोनों छोटे भाइयों अमीन उद्दीन खां और जिया उद्दीन खां को वापस मिलना चाहिये। न सिर्फ यही उन्होंने अमीन उद्दीन खां को सन् १८२४ में कलकत्ते भेजा कि जाकर वहां वह असालतन अदालत के सामने अपना मामला पेश करें। चूंकि खानदान के दूसरे अफराद की तरह गालिब भी नवाब शमसुद्दीन खां के खिलाफ थे इसलिये उन्होंने भी अपने कलकत्ते के दोस्तों के नाम सिफारिशी खत लिखे कि वह अमीनउद्दीन खां की पूरी मदद करें।* इन तमाम कोशिशों का नतीजा यह निकला कि लोहारू दोबारा उन दोनों भाइयों को मिल गया।

नवाब शमसुद्दीन खां फ्रेज़र की इन मुखालफाना सरगर्मियों के बाइस उससे सख्त नाराज़ था और हकीकत यह है कि सीना व सीना जो रवायात सुनने में आई हैं कि उन दोनों में मुखालफत की तह में कोई ज़न थी; अगर वह दुरुस्त न भी हो तो भी फकत यही लोहारू का कज़िया ही उन्हें एक दूसरे का दुश्मन बना देने के लिये काफी था।

जिस वक्त कलकत्ता के इस ताजा फैसले की खबर मौसूल हुई नवाब शमसुद्दीन अहमद खां फीरोज़पुर झिरका में मुकीम थे और खाने पर बैठे थे। ज्योंही यह इत्तिला मिली उन्होंने खाने से हाथ खींच लिया। वह उसी तरह मग़मूम बैठे थे कि एक मुँह चढ़ा मुसाहब करीम खां नामी जो उनका

* कुल्लियात नसर ग़ालिब, सफा १०७।

दारोग़ा शिकार था दाखिल हुआ। उसने जो उन्हें इस हालत में देखा तो पूछा ख़ैर बाशुद क्या मामला है। जब उसे मालूम हुआ कि नवाब साहब की आजुर्दिगी का सबब क्या है तो एक रवायत के बमोजिब उसने खुद-ब-खुद और दूसरी की मुताबिक खुद नवाब साहब की इश्तेआलक पर फ्रेज़र के कत्ल का फैसला कर लिया और इस मुहिम को सर करने के लिए एक मेवाती अन्या नामी को साथ लेकर देहली की तरफ रवाना हो गया।*

यहाँ देहली में कम व बेश तीन महीने घात में लगा रहा लेकिन इस तमाम मुद्दत में उसे फ्रेज़र पर हमला करने का कोई मौका न मिला। जब वह नाकाम फीरोज़पुर आया तो नवाब साहब बहुत नाराज़ हुए और उसे दोबारा देहली भेजा कि जिस तरह भी हो सके फ्रेज़र का खातमा कर दिया जाय। अब के किस्मत ने करीम खां का साथ दिया।

फ्रेज़र की कोठी बाड़ा हिन्दू राव में थी। २२ मार्च सन् १८३५ की शाम का खाना उसने राजा किशनगढ़ के साथ उनके मकान वाके दरियागंज में खाया। नवाब शमसुद्दीन खां की कोठी भी दरियागंज में ही थी और करीम खां यहीं ठहरा हुआ था। कुदरती तौर पर उसे भी फ्रेज़र की नकल व हरकत का पता चल गया। ज्यों ही काफी रात गये नशे में सरशार फ्रेज़र यहाँ से बाड़ा हिन्दू राव वापस जाने के लिए रवाना हुआ। करीम खां भी घोड़े पर सवार उसके पीछे लग गया। आखिरकार उसने उन्हें पहाड़ी के करीब जा लिया और गोली से हलाक कर दिया। अगर करीम खां उसी वक्त बागें शहर से बाहर की तरफ मोड़ के निकल जाता तो मुमकिन था कि वह निलोह बच जाता और मामले का सुराग भी न मिलता। लेकिन गालबन उसे यकीन नहीं था कि फ्रेज़र उसकी गोली से वाकई हलाक हो गया है। इसलिए वह राह फरार अख्तियार करने की जगह वापस दरियागंज में अपने मस्कन पर आ गया। उधर चूंकि गोली फ्रेज़र के मकान के बिलकुल करीब चली थी इसलिये न सिर्फ उसके साथ के असवार ही जो उस गाड़ी के पीछे पीछे कुछ फासले से आ रहे थे बल्कि उसके मकान पर से गारद भी मग्नन मौके पर आ पहुंची। फ्रेज़र गोली लगते ही खत्म हो गया था। सिपाही लाश उठा कर अन्दर ले गये।

*ग़ालिब, मुहर सफा, ४७।

मकतूल के भाई साइमन फ्रेज़र शहर के मजिस्ट्रेट थे। उन्हें इत्तिला दी गई वह भी फौरन आ गये। चूंकि कातिल शहर में दाखिल होता देख लिया गया था इसलिये उन्होंने हुकम दिया कि बिला तवक्कुफ शहर के तमाम दरवाज़े बन्द कर दिये जायें और कोई शख्स बाहर न जाने पाये और तहकीकात की जाय।*

करीम खां ने मकान पर पहुंचते ही अन्या को फौरन फीरोज़पुर भिरका भेज दिया कि नवाब साहब को कारगुज़ारी की इत्तिला दी जाय। चुनाचे नाके बन्द होने से पहले वह शहर से निकल गया। अन्या के मुताल्लिक यह मशहूर है कि वह अपने ज़माने के बेहतरीन और तेज तरीन दौड़ने वालों में से था। उसने चौबीस घंटों में अस्सी-नब्बे मील की मुसाफत तै करके अगले दिन शाम के वक्त सारी रूदाद नवाब साहब के गोश गुज़ार कर दी।

उसके बाद हालात ने कुछ ऐसा रुख अख्तियार किया कि हर कदम पर तफतीश करने वालों की कामयाबी होती गई। ग़ालिब ने एक फारसी खत † में लिखा है कि चूंकि लोगों को मालूम था कि मेरे और नवाब शमसुद्दीन खां के ताल्लुकात आपस में कशीदा हैं इसलिये उन्होंने कहना शुरू कर दिया कि मैंने इस मामले में नवाब के खिलाफ मुखबरी की है हालाँकि यह सारा किया धरा खुद नवाब के इब्न अम फतेहउल्ला बेग खां का है और मैं इस मामले में बिलकुल बेकसूर हूँ।

इसमें कोई शुबहा नहीं कि खुद नवाब शमसुद्दीन खां को भी फतेहउल्ला बेग खां के खिलाफ शिकायात थीं। लेकिन अगर यह दुरुस्त न भी हो तो भी उनके खिलाफ कार्रवाई करने के लिए काफी वजूह मौजूद थीं :

(१) यह किसी से मखफी नहीं था कि लोहारू के कज़िये में फ्रेज़र ने जिस सरगरमी से नवाब साहब के खिलाफ काम किया है उससे नवाब साहब बहुत ही बरअफरोख्ता हैं।

(२) इसी शुबहे की बिना पर नवाब साहब की दरियागंज वाली

---

* करनेल सीमान की अंग्रेजी किताब 'Recollections and Rambles of Indian official', बाब सोलह, नीज़ देखिये वाकेयात दारुलहुकूमत देहली, हिस्सा दोम, सफा ४६२।४६३।

† कुल्लियात नसर, सफा १६२, नीज़ जिक्र ग़ालिब, सफा ७२।

कोठी की तलाशी हुई और वहाँ से नवाब साहब के करीम खां के नाम लिखे हुए बाज़ खुतूत और दूसरे काग़ज़ात बरआमद हुये जिनसे मामला और मुश्तबा हो गया।

(३) जब करीम खां से उसकी नकल व हरकत से मुताल्लिक पूछ-गछ हुई तो उसके जवाब नातसल्लीबख्श पाये गये, इस पर उसे ज़ेर हिरासत ले लिया गया।

(४) कत्ल के दो-तीन दिन बाद दरियागंज के इलाके में एक आदमी का डोल कुएँ में गिर गया। जब ग़ोताख़ोर कुएँ में उतरा तो डोल के अलावा उसमें से एक बन्दूक भी निकली जिसकी नाल कटी हुई थी। एक लोहार ने उसे शिनाख्त किया और कहा कि यह बन्दूक करीम खां की है और खुद मैंने उसके कहने पर इसकी नाल काटी थी। उधर जिस गोली से फ्रेज़र हलाक हुआ था वह उसी बन्दूक से चली थी।

(५) नवाब शमसुद्दीन खां को जब बहुत दिन तक देहली से कोई इत्तिला न मिली तो उन्होंने करीम खां के बहनोई वासिल खां को सूरत हाल मालूम करने के लिये देहली भेजा। वह इत्तिफाक से कत्ल के अगले ही दिन यहाँ पहुँचा और गिरफ्तार हो गया।

गरज़ करीम खां और वासिल खां के जवाबात से मजिस्ट्रेट का इत्मीनान न हुआ और उसे शुबहा हुआ कि इस कत्ल में खुद नवाब साहब का भी हाथ है तो उन्हें देहली आने के लिए लिखा गया। बाज़ लोगों ने उन्हें मशविरा दिया कि अँग्रेज़ का कोई एतबार नहीं आप देहली न जायें अपनी जान बचाकर किसी तरफ को निकल चलें। लेकिन वह न माने और यहां चले आये। यहाँ पहुँचते ही वह गिरफ्तार हो गये।

मुकदमा चला। अम्या जो इस असना में गिरफ्तार हो चुका था सुलतानी गवाह बन गया और उसने सारा राज़ राज़ तश्त अज़ बाम कर दिया। आखिरकार फैसला यह हुआ कि वाकई कत्ल करीम खां ने किया है। चुनांचे उसे बरोज़ जुमा २८ अगस्त सन् १८३५ को फाँसी दी गई। मौके पर चार सौ प्यादा फौज मौजूद थी। लोगों का आम ख्याल था कि करीम खाँ बेगुनाह है। उन्होंने उसकी सुर्ख सपीद रंगत की मुनासबत से उसे गुले-सुर्ख का खिताब दिया था। करीम खां ने वसीयत की थी कि मुसलमान मेरी मग़फरत के लिए दुआ करें। चुनांचे जिस दिन उसे फाँसी

की सज़ा हुई उस दिन देहली की तमाम मस्जिदों में उसके लिए दुआ माँगी गई। मुद्दतों लोग उसकी कब्र पर फूल चढ़ाते और चिराग़ां करते रहे। कव्वाल कव्वाली गाते और रक्स करते। मालूम नहीं उसकी कब्र कहाँ थी।*

नवाब साहब से मुताल्लिक मजिस्ट्रेट का यह फैसला था कि कत्ल उनकी अंगेख्त पर हुआ है। लेकिन चूँकि यह एक रियासत के हुकमरान थे इसलिए वह खुद उन्हें सज़ा देने का मजाज़ नहीं था। उसने मुकदमे के सारे क्वायफ, तफतीश के नतायज, अपनी राय वग़ैरह लिख के सदर-कलकत्ता में हुक्म सादिर करने के लिए भेज दी। नवाब साहब को जब इसका इल्म हुआ तो उन्होंने अपने ककील मिर्ज़ा असफन्दयार बेग† को मुकदमे की पैरवी के लिए कलकत्ता भेजा। असफन्दयार बेग ने वहाँ एक अंग्रेज़ वकील चार्ल्स थेकरे की मार्फत कार्रवाई की, लेकिन उसका कोई फायदा न हुआ। आखिरी हुक्म सादिर हुआ कि नवाब शमसुद्दीन खां को भी फाँसी दे दी जाय।

इस हुक्म की तामील में नवाब साहब को जुमेरात के दिन ८ अक्तूबर सन् १८३५ को काश्मीरी दरवाजे के बाहर फाँसी पर लटका दिया गया। मौके पर देसी और गोरा फौज का काफी इन्तज़ाम था, क्योंकि अंदेशा था कि कहीं शहर में फिसाद न हो जाये या लोग ऐन मौके पर नवाब साहब को बचाने और रिहा कराने की कोशिश न करें। नवाब साहब से भी मुताल्लिक लोगों का यही ख़्याल था कि वह बेगुनाह हैं। इत्तिफ़ाक से जब उनकी लाश लटक रही थी तो अपने आप वह किबला रुख हो गई। इससे भी लोगों ने यही असर लिया कि वह बेगुनाह शहीद

* तारीख सफाहृत उर्दू, सफा ९६।९८।

† मिर्ज़ा असफन्दयार बेग का नाम ग़ालिब के उर्दू और फारसी खतों में कई जगह आया है। यह बरेली का रहने वाला था, पहले जिला मुजफ्फरनगर में न्याबत फौजदारी पर मुतमक्किन रहा। वहाँ से नवाब शमसुद्दीन खां के पास मुनसरिम और मुख्तार कार होके आ गया। जब उस मुकदमे में उसे नाकामी हुई तो उसने दस्तार बांधनी तर्क कर दी और उसके बाद सारी उम्र सिर पर एक मुख्तसर सा दुपट्टा लपेटता रहा। जब वह अलवर में मुन्शी उमू जान के ज़माने में नायब दीवान होके गया और बाद में उनके यहाँ से निकलने पर खुद दीवान बन गया तो हमेशा उसी वज़ा में रहा। इसीलिए वह अलवर में मिर्ज़ा फेंटेबाज़ के नाम से मशहूर था। १८६२ में फौत हुआ।

—(मुरक्का अलवर, सफा १४४।१५२। उर्दू मुअल्ला, सफा १२१।)

हुए हैं। नमाज़ जनाज़ा आठ हज़ार मजमे के साथ देहली के मशहूर आलिम हज़रत शाह अब्दुलअज़ीज़ के निवासे मौला शाह मुहम्मद इसहाक ने पढ़ाई। कदम शरीफ में दफन हुए।*

मुहम्मद मुज़फ्फर खां गरमपुरी शागिर्द ज़ौक ने तारीखे वफात एक मुअम्मे की शक्ल में लिखी। फरमाते हैं—

यह दस्त दराज़िये सितम किससे बयां हो,
बे जुर्म व गुनह मसनदे नवाब को उलटा।
तारीख मुअम्मे में नई तर्ज़ से लिख गर्म,
क्या चर्ख ने नवाबिये सुहराब को उलटा।

तारीख़ नवाबिये सुहराब के लफज़ों को उलटने से निकलती है यानी सन् १२५२ हिजरी लेकिन इसमें एक ज्यादा है, सही १२५१ हिजरी है। ८ अक्तूबर सन् १८३५ के मुताबिक १४ जमादियुसानी १२५१ हिजरी था। एक अदद की कमी बेशी शोरा ने बाज़ औकात जायज़ रखी है।†

नवाब शमसुद्दीन खां के चार औलादें थीं। उनकी ब्याहता बीबी जानी बेगम मिरज़ा मुग़ल बेग की बेटी थीं उनसे दो लड़कियाँ मुहम्मदुन निसा बेग़म और अहमदुन निसा बेगम हुई। एक दाशता चम्पा नामी से एक लड़की रहमतुन निसा बेगम हुई दूसरी वज़ीर बेगम उर्फ छोटी बेग़म से एक लड़का हुआ जिसका नाम नवाब मिर्ज़ा था। यही नवाब मिर्ज़ा आगे चलकर हमारी ज़बान का मशहूर शायर दाग़ देहलवी कहलाया।

* तारीख सहाफत उर्दू, सफा १०१। ज़िक्र ग़ालिब, सफा ६९।७५।
† मकातीब ग़ालिब, सफा १२४ (हवाशी)।

: १० :

बहादुरशाह 'ज़फ़र'

"ज़माने में जो कहलाते हैं शायर आजकल अच्छे,
'ज़फ़र' रुतबा मिला उनको तिरे फ़ेज़े सुख़न से है।
शाहे-मादारद् बहम दर रहरवी,
ख़िरक-ए पीरी व ताजे-कैसरी।
शाही ओ दरवेशी ईजा बाहम अस्त,
बादशाह ओहदेकुतुब आलम अस्त।

—ग़ालिब

मिर्ज़ा ग़ालिब ने जिसकी तारीफ में यह कलाम लिखा था वह दिल्ली के अन्तिम बादशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र' थे जिन्हें अंगरेजों ने सन् सत्तावन के ग़दर के बाद गिरफ्तार कर रंगून (बर्मा) में क़ैद कर रक्खा और जिनकी जिन्दगी का चिराग़ वहीं गुल हुआ। वहीं उनकी कब्र है जिसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा था—

मेरी कब्र पे आंसू गिरायेगा कौन ?
मेरी कब्र पे फूल चढ़ायेगा कौन ?

ऐसे तो मुग़ल साम्राज्य का टूटना औरंगजेब के बाद ही आरम्भ हो गया था पर उसकी गति नादिरशाह के आक्रमण के बाद अधिकतर तीव्र होती गयी। जो बादशाह हुए वे अधिकतर विलासी थे और उन्होंने ज्यादातर अपना समय ऐशो-आराम में बिताया और मुग़ल सल्तनत की नींव को, जो दिन-दिन कमजोर होती जा रही थी, दृढ़ करने की कोशिश न की। निज़ाम, नवाब मुर्शिदाबाद, नवाब अवध—ये सभी स्वतन्त्र हो गये। उधर मराठों की शक्ति और लूटपाट भी उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।

अंगरेज, जो कि आरम्भ में केवल व्यापार से ही सम्बन्धित थे, धीरे-धीरे राजनीति में आ घुसे। मराठों से संघर्ष हुआ, मराठे हार गए। नवाब सिराजुद्दौला को हराकर क्लाइव ने अंगरेजी सत्ता पूरी तरह स्थापित कर ली। क्लाइव ने शाह आलम से दीवानी प्राप्त करके सारे वास्तविक शाही अधिकार अपने हाथ में कर लिए और बादशाह केवल प्रदर्शन

के लिए रह गया। यही परिस्थिति थी जब कि बहादुरशाह द्वितीय दिल्ली के तख्त पर आसीन हुए। वे उन लोगों में थे जिनमें अपने तैमूर-वंश के गौरव की गहरी भावना थी। मुग़ल-दरबार का सारा ऊपरी ठाट-बाट अब भी वही था जो कि जहाँगीर अथवा शाहजहाँ के समय में, पर उसके भीतर जो खोखलापन था उसे वे पूरी तरह समझते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी की आधीनता से उन्हें अत्यन्त मानसिक क्लेश था। अतएव जब सन् १८५७ में देश में जहाँ-तहाँ विद्रोह की आग भड़क उठी तो वे भी उसमें जा कूदे। उन्होंने विद्रोहियों का साथ ही नहीं दिया बल्कि सारे देशी रजवाड़ों को पत्र लिखकर उनसे अंगरेजों का विरोध करने की प्रार्थना की। पर दैव विपरीत था। न तो देशी रजवाड़ों ने उनकी पुकार सुनी और न विद्रोहियों ने ही। बार-बार विद्रोही-सेना से कहा कि निहत्थे स्त्री और बच्चों पर वे शस्त्र न उठायें पर उन्होंने इस पर ध्यान नहीं दिया। फल यह हुआ कि अंगरेज़ प्रतिहिंसा की भावना से पागल हो उठे और जब उनकी विजय हुई तो उन्होंने इसका बुरी तरह बदला लिया। मौलाना हसन निजामी ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि जब विद्रोहियों ने बादशाह की एक न सुनी और नृशंस हत्यायें बंद न कीं, तो वे क़िला छोड़कर हुमायूँ के मकबरे में चले आये जिससे क़िले में रहने वालों पर अंगरेज अत्याचार न करें और बड़ी देर तक भगवान् से उनके लिए क्षमा-प्रार्थना करते रहे। यहीं अंगरेजी सेना ने आकर उन्हें गिरफ्तार किया तथा अंगरेज़ कलकत्ते की राह से उन्हें रंगून ले गए।

दरो दीवार पर हसरत से नज़र करते हैं।
ख़ुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं ॥*

कहते हुए उन्होंने भी अपनी मातृभूमि से विदा ली। क़िले का दरवाजा वह खोल आये थे, फिर भी इसका अंगरेजों पर कोई असर न हुआ। उन्होंने औरतों की इज़्ज़त ली तथा बहादुरशाह के लड़कों के सिर काटकर उनके सामने रखे, उनके शवों को नगर के फाटक पर टांग दिया। लोग दिल्ली के उस द्वार को आज भी "खूनी दरवाजे" के नाम से पुकारते हैं।

बाग़ी सिपाही तितर-बितर होकर अपने गांव को चले गये। मुग़ल साम्राज्य का सूर्य सदा के लिए विलीन हो गया।

*लखनऊ छोड़ते वक्त नवाब वाजिद अली शाह की उक्ति।

दिल्ली के अन्तिम बादशाह बहादुरशाह का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है। विधि की यह भी एक विडम्बना ही है कि उनके जैसा महापुरुष इतिहास के पृष्ठों में एक अत्यन्त साधारण-सा स्थान ही पा सका, जबकि उनसे कहीं निम्नकोटि के व्यक्तियों के लिए इतिहासकारों ने पृष्ठ पर पृष्ठ रंग डाले हैं। वह उन महापुरुषों में थे जिन्हें संसार पूरी तरह न तो समझ पाया, न जान पाया। साधारणतः हम उन्हें दिल्ली के अन्तिम मुग़ल बादशाह—वह जिसके समय में दिल्ली की सल्तनत एक बहुत छोटी सी परिधि के भीतर ही रह गयी थी—समझते आए हैं, जिसका न तो कोई महत्व रह गया था और न जिसके शासन-काल में कोई विशेष घटना ही हुई, सिवाय इसके कि उसके ही राजत्वकाल में सिपाही-विद्रोह हुआ जिसमें उसने भी हिस्सा बटाया और हार खायी। पर इतने से ही बहादुरशाह को नहीं जाना जा सकता। जो चीजें उन्हें उनके वंश के अन्य बादशाहों से ऊँचा उठाती हैं वे थीं उनकी आध्यात्मिकता, रूहानियत और उनका व्यक्तित्व। इनके सम्बन्ध में इतिहास चुप रहा। किन्तु इन दृष्टियों से वे उतने ही बड़े थे जितने कि अरब के जगत्प्रसिद्ध शासक खलीफा मामूँ रशीद। और यदि साहित्य की दृष्टि से देखा जाय तो उनका स्थान ज़ौक़ अथवा ग़ालिब से किसी कदर कम नहीं। उर्दू पद्य-बाटिका में ज़ौक़ और ग़ालिब जैसे फूल खिले थे तथा दक्षिण में निजाम हैदराबाद का दरबार उर्दू कवियों से जगमगा रहा था। उर्दू जो कि पलटनों तथा बाजारों के बीच जन्मी और शाह आलम ने जिसका पालन-पोषण किया, अब अपनी पूरी जवानी पर थी। बहादुरशाह के द्वारा उसे काफी प्रोत्साहन मिला। उनका दरबार बड़े-बड़े शायरों का केन्द्र हो गया था तथा वे स्वयं भी एक ऊँचे दर्जे के शायर थे। "क़िले में दिन-रात शेर व शायरी की महफिलें गर्म रहतीं" तथा "अशआर के दफ्तर खुलते"। उनका यह कविता-प्रेम जीवन की अन्तिम घड़ियों तक ज्यों-का-त्यों बना रहा। वे स्वयं कहते हैं—

तबीअत है जवां पीरी में भी वह ऐ 'ज़फ़र' तेरी,
सुख़नफहमी, सुख़नसंजी, सुख़नदानी नहीं जाती।

वह जमाना था जब लोग किसी-न-किसी को अपना काव्य-गुरू मानकर काव्य-रचना में आगे बढ़ते थे, अपनी रचनाओं को उससे दुरुस्त कराते थे तथा उससे काव्य-शास्त्र की शिक्षा लेते थे। वे आजकल के कवियों

की भाँति "काटा और ले दौड़े" के सिद्धान्त पर नहीं चलते थे और इस बात पर पूरा ध्यान रखते कि वह जो कुछ भी लिखें, सुसंस्कृत हो, छन्द-दोष से रहित हो, परिमार्जित हो। इसी प्रथा के अनुसार उन्होंने आरम्भ में शाह नसीर को अपना काव्य-गुरू माना और उनसे अपनी रचनाओं को संशोधित कराते रहे। शाह साहब की शायरी उन दिनों चढ़ाव पर थी और स्वयं बादशाह शाह आलम भी उनके कद्रदानों में रहे थे। उनके दकन[1] चले जाने के बाद 'ज़फ़र' मीर काज़िम हुसैन के शागिर्द हुए। पर कुछ दिनों में ही वह भी जॉन एलफिन्स्टन के मीर मुंशी होकर सरहद की ओर चले गए। फिर 'ज़फ़र' ने कोई उस्ताद न रखा, ज़ौक़ से मशवरे-सुख़न करते रहे। यही वजह है कि उर्दू साहित्य के हाली और आज़ाद जैसे विद्वानों ने भी लिख मारा कि 'ज़फ़र' की शायरी का ज्यादा हिस्सा ज़ौक का लिखा हुआ है, पर इसके लिए वे कोई प्रमाण पेश न कर सके। उनकी यह बात लोगों के गले नहीं उतरी। ज़ौक के मर जाने के बाद भी 'ज़फ़र' उसी दर्जे की शायरी करते रहे, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिन दिनों वे रंगून में क़ैद थे, उन दिनों भी उन्होंने काव्य-रचना न छोड़ी और उनकी उस समय की रचनाएँ भी उसी उच्च श्रेणी की हैं जैसी कि बादशाहत के समय की। रंगून में उनके पास न तो ज़ौक़ थे, और न ग़ालिब। फिर यह कहना कि ज़ौक़ और ग़ालिब ने अपनी रचनाओं में 'ज़फ़र' का नाम जोड़कर उन्हें बादशाह की रचना बतला दी, गलत है, असंगत है, अविश्वसनीय है। 'ज़फ़र' की शायरी एक अपनी विशेषता रखती है जो ज़ौक़ और ग़ालिब (जिन्हें ज़ौक़ की मृत्यु के बाद उस्तादे शाह की जगह मिली) की शायरी से भिन्न है और कृत्रिमता से रहित है। ज़ौक़ और ग़ालिब तथा ज़फ़र की शायरी में यह बहुत बड़ा अन्तर है कि जहाँ ज़ौक़ और ग़ालिब की रचनाएँ अधिकतर कल्पना पर आधारित हैं, ज़फ़र की अनुभूति तथा वास्तविकता पर। और

---

१. दकन—निज़ाम हैदराबाद के यहाँ उन दिनों उर्दू शायरों का जमघट लगा रहता था तथा उनकी बड़ी कद्र थी। निजाम ने बड़ी कोशिशें कीं कि ज़ौक़ भी वहां चले आयें, पर ज़ौक़ न गए, लिखकर भेज दिया—

गर्चे है मुल्के दकन में आजकल क़दरे सुख़न,
कौन जाये ज़ौक़ पर दिल्ली की गलियाँ छोड़कर।

इसीलिये इनमें सादगी है। वे हृदय को प्रभावित करती हैं--"वह बात दे जुबां में कि दिल पर असर करे" की पूर्ति करती हैं। यह इसीलिए कि उन्होंने दिल्ली के तख्त पर रहकर भी दिल पर अनेकों झटके खाये तथा सदमे पाये थे। खुद फर्माते हैं—

दिले रंजूर को मेरे ग़मे उल्फत ने 'ज़फ़र',
सदमे पर सदमे दिये, झटके पर झटके लाखों !

'ज़फ़र' स्वभाव से ही अपने बूते पर—अपने पाँवों पर—खड़े होने वाले व्यक्ति थे। कहते हैं--

ऐ 'ज़फ़र' अपनी रेयाजत का न जब तक बल हो,
न तो बल पीर का काम आये, न उस्ताद का बल।

अतएव यह कथन कि उन्होंने ज़ौक़ किंवा मिर्ज़ा ग़ालिब के बनाये हुए कलामों को अपना कलाम कहा होगा, अग्राह्य ही नहीं, असंभव है।

'जफ़र' में एक खास गुण था जो औरों में नहीं। काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ गला भी था, गाने की तमीज़ भी। ग़ज़लें लिखने में कमाल हासिल था ही; तरजीबन्द, तज़ामीन, मोखम्मस, मोसद्दस, मोसल्लस, क़ता, रुबाइयां—सभी लिखते थे। सेहरा, नात, मसनवी वगैरह भी लिखे हैं।* कई तो उनकी खुद ईजाद हैं। फारसी एवं पंजाबी भाषाओं में भी कविताएं लिखी हैं तथा अपने कलामों में हिन्दी और संस्कृत शब्दों का बड़ी ख़ूबी से प्रयोग किया है, जैसे कि—

कहीं मैं अक्ल-आरा हूँ, कहीं मजनूने रुसवा हूँ,
कहीं मैं पीरे दाना हूँ, कहीं मैं तिफ्ले नादां हूँ।
कहीं मैं दस्ते क़ातिल हूँ, कहीं मैं हलके बिसमिल हूँ,
कहीं जहरे हलाहल हूँ, कहीं मैं आबे हैवां हूँ।

यहाँ 'हलाहल' शब्द का किस खूबी के साथ प्रयोग किया है !

'ज़फ़र' के काव्य में कितनी सादगी तथा अकृत्रिमता है, इसके कुछ उदाहरण देखिये--

नौ-गिरफ़तारे क़फ़स गर यों ही तड़पे सैयाद,
कोई दम में यह समझना कि क़फ़स टूट गये। —ज़ौक़
मुर्गे दिल मत रो यहां आंसू बहाना है मना,
इस क़फ़स के क़ैदियों को आबो दाना है मना। —ज़फ़र

* देखिये परिशिष्ट।

हम रोने पर आ जायँ तो दरिया ही बहा दें,
शबनम की तरह से हमें रोना नहीं आता। —ज़ौक़
बहा गर आंख से दरिया तो क्या हासिल,
फ़रो कब इससे मेरे दिल की सोजिश होनेवाली है। —ज़फ़र
नगमा-हाए-ग़म[1] को भी ऐ दिल गनीमत जानिये,
बेसदा हो जायगा यह साजे-हस्ती[2] एक दिन। —ग़ालिब
हम कहाँ और कहाँ ख़ानए-रंगीने जहाँ,
देखलें और कोई दम है तमाशा बाक़ी। —ज़फ़र

वे ज़ौक़ का बहुत सम्मान और उनसे स्नेह करते थे। यह नीचे के दो शेरों से ज़ाहिर है—

बे-ज़ौक़ जरा लुत्फ नहीं शेरो सुख़न में,
इस रमज़े[3] नेहानी को कोई पूछे ज़फ़र से।
तेरा मज़ाके शेर ज़फ़र जानता है कौन,
उस्ताद ज़ौक़ था तेरा वाक़िफ़ मज़ाक से।

'ज़फ़र' एक सिद्ध-हस्त कवि तो थे ही साथ-साथ फ़क़ीर भी थे। दिल्ली के तख़्त पर एक-से-एक गुणी और कला-प्रेमी बादशाह बैठे, पर यह श्रेय उनको ही प्राप्त है कि वे तमाम शानो-शौकत, ऐशो-आराम, तड़क-भड़क के बीच रहते हुए भी फ़क़ीर ही बने रहे। धर्म में निष्ठा औरंगजेब को भी थी। उसके जीवन में भी सादगी थी। पर वह न तो सभी धर्मों को एक समझता था और न सभी मनुष्यों को। मनुष्य उसी एक खुदा का जिसका कि वह बन्दा है, अंश[4] है—यह भावना उसके हृदय में कभी न आयी और न उसमें करुणा एवं प्रेम के श्रोत प्रवाहित हुए। ज़फ़र में एक साथ ये सारी चीज़ें थीं, और ये ही उन्हें एक टूटते हुए साम्राज्य का अधिपति होने पर भी, बाकी सभी मुग़ल बादशाहों से ऊपर उठाती हैं। दिल्लीश्वर होकर भी उन्होंने धन की परवाह न की, कहते हैं—

किया ग़ारत 'ज़फ़र' हजारों को दुनिया की दौलत ने,
बड़ी आफ़त है यह दुनिया, माज़-अल्लाह, माज़-अल्लाह!

---

१. दुःख के गीत। २. संसार-वीणा। ३. छिपा हुआ भेद।
४. **जो अर्श से है फर्श तलक, आदमी में है, देख आंख खोलकर,**
क्या-क्या नहीं है इसमें कि सब कुछ उसी में है, पर चाहिए नजर।
—ज़फ़र

हिजरी सन् की तृतीय शताब्दी (ईस्वी सन् की ९वीं सदी का अन्त एवं १०वीं का प्रारम्भ) में सूफ़ीमत ने जन्म पाया जिसके सिद्धान्त एवं साधन-प्रणाली भारतवर्षीय अद्वैतमत से अत्यधिक मिलती है। दोनों ही गुरू के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण का उपदेश देते हैं, सभी वस्तुओं में ईश्वर का प्रकाश पाते हैं,[1] अहर्निश भगवान् के नाम की रट को ही सबसे ऊँची पूजा समझते हैं। निज में भगवान्-ब्रह्म में सूफ़ी अथवा अद्वैतवादी कोई अन्तर नहीं मानते[2]। वे प्रति मनुष्य से, उसे ब्रह्म का अंश मान कर, एक-सा प्रेम करते। जीवन को सादगी, सचाई और प्रेम-भावना से ओत-प्रोत रखते हैं।

बहादुर शाह 'ज़फ़र' भी ऐसे ही एक सूफी* थे। उनके कलामों में सूफी भावनाओं का प्राचुर्य है, तथा जहाँ कहीं भी अवसर मिला है, उन्होंने अपने सूफ़ी विचारों को व्यक्त किया है। वे पहुँचे हुए सूफ़ी महात्मा मौलाना शाह फखरुद्दीन से छोटी उमर में ही बैत—दीक्षित—हुए थे। उनके पर-लोकगत होने पर उनके सुपुत्र मौलाना कुतुबुद्दीन तथा उनके पौत्र नसीरुद्दीन से बड़ी घनिष्टता रखी। अपने बहुतेरे शेरों में उन्होंने इस बात को जाहिर भी किया हैं तथा गुरू के प्रति भक्ति एवं निष्ठा के भाव प्रदर्शित किये हैं। यथा—

> मुरीदे कुतुबुद्दीन हूँ ख़ाक-पाए[3] फखरेदीं हूँ मैं,
> अगर्चे शाह हूँ, उनका गुलामे-कमतरीं[4] हूँ मैं।
> बहादुरशाह मेरा नाम है मशहूर आलम में,
> व लेकिन ऐ 'ज़फ़र' उनका गदा-ए रहनशीं[5] हूँ मैं।
> 'ज़फ़र' दुश्वार हैं हर चंद अहले मारफ़त होना,
> मगर सदक़े में फ़ख़रुद्दीन हाँ हो सकता है सब कुछ।

१. खुदी व बेखुदी दोनों हैं अक्से-सूरते-जानां,
उसी को जल्वागर पाते हैं जिस आलम में जाते हैं। —अकबर
(जानां=प्रियतम)

२. ज़ाहिदे गुमराह के मैं किस तरह हमराह हूँ,
वह कहे अल्लाह हू, मैं कहूँ अल्लाह हूँ!
(ज़ाहिदे गुमराह = पथ = भ्रष्ट अद्वैतवादी। हू = भय। भय का कारण दूसरा ही होता है, अपने आप से किसी को भय नहीं होता।) —महात्मा मंसूर

३. पांव की धूल ४. निकृष्ट सेवक। ५. रास्ते में बैठने वाला फ़क़ीर।

* देखिए परिशिष्ट।

अब उनकी कुछ ऐसी रचनाएँ देखिये जिनमें उनकी सूफ़ी भावनाएँ स्पष्टरूप से परिलक्षित हैं—

१— शोला है वही, शमा वही, माह वही है,
खुरशीद वही नूरे सहरगाह[1] वही है,
मजनू व खराबाती[2] व दीवाना व हुशियार,
दरवेश व गदा शाहो शहनशाह वही है,
खारा में शरर[3] है वह जफ़र लाल में वह रंग,
वल्लाह वही सब मे है वल्लाह वही है।

सरमद ने भी तो यही कहा था जिसके कारण औरंगजेब ने उसे क़त्ल कर दिया—

मशहूर शुदी बदिल रुबाई हमा जा,
बेमिस्ल शुदी दरआइनाई हमा जा,
मन आशिक़े ईं तौरे तोअम् मी बीनम्।
खुदरा न नुमाई ब नुमाई हमा जा।

—तू अपनी सुन्दरता और मोहब्बत के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है, मैं तेरी इस अदा दर फिदा हूँ कि गो कि तू हर जगह अपने आप को छिपाता है, फिर भी सब जगह दिखाई दे रहा है—तू ही तू है!

२— सब्र कर, सब्र कर ऐ दिल ! तुझे कुछ होना है,
हो न बेताब कि हासिल तुझे कुछ होना है।
ऐ 'ज़फ़र' पेशे नजर यार की तस्वीर को रख,
इसके होने से मुकाबिल तुझे कुछ होना है।

३— हर शैं मे है तू जलवानुमा वाहिदो शाहिद,
अल्लाह तेरा जलवा है क्या वाहिदो शाहिद।
सब रंग तेरे, और तेरा रंग निराला,
तू सब मे है और सबसे जुदा वाहिदो शाहिद !
परदे को दुई के जो दरे-दिल से उठाया,
बे-परदा तुझे देख लिया वाहिदो-शाहिद !

४— 'ज़फ़र' है खाक का पुतला यह इन्सां,
पर उसमें बोलता जाने यह क्या है !

५— देख आईना सिफ़त साथ सफ़ाई के हमें,
शीशाए-कीना व आईने कदूरत से न देख।

---

१. उषाकाल की ज्योति। २. शराब खाने मे रहने वाला। ३. आग की लौ।

कौन कहता है कि शोखी व शरारत से न देख,
दिल को लेकिन नज़रे दुज़दी[1] व ग़ारत से न देख।
जो कि हो तुझसे सिवा तू उसे हसरत से न देख,
और जो मुझसे हो कम, उसको हिकारत से न देख।
ज़ाले दुनिया तुझे सौ जलवा उरुसाना[2] देखाये,
है जवांमर्द अगर, तो उसे रग़बत[3] से न देख।
देखूं क्या गुलशने हस्ती को कि कहती है ख़ज़ां,
तू बहार इसकी बहुत बैठ के फ़ुर्सत से न देख।
देख तू हिम्मते आली से बशर का रुतबा,
मरतबा उसका बुलिन्द-ए-इमारत[4] से न देख।

६— यारो सफर का कुछ सामान तो करो,
जाना कहां है तुमको ज़रा ध्यान तो करो।

७— करते गुरूर से जो यह दाव-ए-ईमां हैं हम,
कुफ्र यह है इसे तोड़े तो मुसलमां हैं हम।[5]

८— 'ज़फ़र' आदमी उसको न जानियेगा,
हो वह कैसा ही साहबे फहमो ज़का[6],
जिसे ऐश में यादे-ख़ुदा न रही,
जिसे तैश में ख़ौफ़े-ख़ुदा न रहा।

९— मये वाहदत[7] की हमको मस्ती है।
बुतपरस्ती ख़ुदापरस्ती है।*

१०— बुत परस्ती जिससे होवे हक़[8] परस्ती ऐ 'ज़फ़र',
क्या कहूं तुझसे कि वह तर्जे परस्तिश[9] और है।

११— जानते हैं अहले दुनिया जैसी पढ़ते हैं नमाज़,
पर बला से सरकशों का सर ज़रा झुकता तो है।

---

१. चोरी और लूट की दृष्टि। २. विवाह के समय का। ३. आकर्षण, चाहत। ४. ऊंची अटारी से। ५. अर्थात् यदि हम अहंकार-अहंभाव—को तोड़ दें तभी सच्चे मुसलमान साबित हों। ६. बुद्धिमान्, ७. एकाई, ८. ईश्वर, ९. पूजा।

* अकबर इलाहाबादी ने भी फर्माया था—

मेरी जानिब से व लेकिन दिल को रखिये मुतमईन
बुत का जो मद्दाह हो, हिन्दी का हामी क्यों न हो।

सूफी मूर्ति-पूजा को मूर्ति की पूजा नहीं बल्कि ईश्वर की ही पूजा मानते हैं। मूर्ति तो केवल निमित्त मात्र है, जो कि यथार्थ तत्व है। काश ! औरंगजेब इस तत्व को समझ पाता !

डाक्टर इकबाल ने भी लिखा है—

मसजिद तो बना ली शब भर में, ईमां की हरारत[1] वालों ने,
मन अपना पुराना पापी है, बरसों में नमाजी बन न सका।

ग़ालिब कहते हैं—

ख़ुदा का नाम गो अक्सर,
ज़बानों पर है आ जाता।
मगर काम उससे जब चलता,
कि वो दिल में समा जाता।

'ज़फर' के धार्मिक विचार इतने अधिक उदार होते गये कि दिल्ली में एक बार यह अफ़वाह उड़ी कि वह सुन्नी से शिया हो गये। इस पर उन्होंने लिखा—

फ़िदाए-चार यारो[2] ख़ाकपाए पन्जतन[3] हूं मैं,
'ज़फ़र' मेरा तो मज़हब यह है और ईमानों दीं यों है।

१२— मेरी आंख बन्द थी जब तलक वह नज़र में नूरे जमाल था,
ख़ुली आंख तो न खबर रही कि वह ख़्वाब था कि ख़्याल था।
मेरे दिल में था कि कहूंगा मैं यह जो दिल पर रंजो मलाल है,
वह जब आ गए मेरे सामने तो न रंज था, न मलाल था।
'ज़फ़र' इससे छुटकर जस्त की तो यह जाना हमने कि,
फ़क़त एक क़ैद ख़ुदी[4] की थी न कफ़स था न कोई जाल था।

१३— दिया अपनी खुदी को जो हमने मिटा,
वह जो परदा सा बीच में था, न रहा।
रहे परदे में अब न वह परदानशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा।

१४— सूफ़ियों में हूं व रिन्दों में व मय-ख़ारों में हूं,
ऐ बुतो! बन्दा ख़ुदा का हूं, गुनहगारों में हूं।
मेरी मिल्लत है मोहब्बत, मेरा मज़हब इश्क़ है,
ख़ाह हूं मैं काफ़िरों में ख़ाह दींदारों में हूँ।
सफ़ह-ए आलम व मानिन्दे नगीं मिस्ले कलम,
या सियाहरुयों[5] में हूं मैं या सियहकारों में हूं।

---

१. गर्मी। २. चार यार —अबुबकर, उमर, उस्मान और अली जो मुहम्मद साहब के चार हाथ के समान थे। ३. चार यार और पाँचवें हजरत मुहम्मद। ४. अहंभाव। ५. काले मुंह वाले।

ने मेरा मूनिस[1] है कोई, और न कोई ग़मगुसार,
ग़म मेरा ग़मख़ार है मैं ग़म के ग़मखारों में हूँ।
जो मुझे लेता है फिर वह फेर देता है मुझे,
मैं अजब एक जिन्स नाकारा खरीदारों में हूँ।
ऐ 'ज़फ़र' मैं क्या बताऊँ तुझको जो कुछ हूँ सो हूँ,
लेकिन अपने फ़ख़रेदीं[2] के कफ़श्-बरदारों में हूँ।

१५—तज़ीमी गुनचा हूँ मैं वाशुदा पर खुद परीशां हूँ,
कहीं गौहर हूँ अपनी मौज में मैं आप गलतां हूँ।
कहीं मैं सागरे गुल हूँ, कहीं मैं शीशए मुल हूँ,
कहीं मैं शोरे कुल्कुल हूँ, कहीं मै हूए मसतां हूँ।
कहीं मैं जोशे वहशत हूँ, कहीं मैं महवे हैरत हूँ,
कहीं मैं आबे रहमत हूँ, कहीं मै दाग़े इसियां हूँ।
कहीं मैं बर्क़े खिरमन हूँ, कहीं मैं अब्रे गुलशन हूँ,
कहीं मैं अश्के दामन हूँ, कहीं मैं चश्मे गिरियां हूँ।

\+ \+ \+

कहीं मै सखे[3] मौजूँ हूँ, कहीं मै वेदे[4] मजनूं हूँ,
कहीं गुल हूँ 'ज़फ़र' मैं और कहीं खारे बयाबां[5] हूँ।

'ज़फ़र' ने अपने जीवन-काल में चार दीवान शाया किये। इसके बाद की ग़ज़लें और शेर असंकलित रूप में रहे, पर इतने लोकप्रिय थे कि कव्वाल और दिल्ली लखनऊ की तवायफें उन्हें पुश्त-दर-पुश्त गाती रहीं—आज भी गाती हैं।

रंगून के जेलखाने में भी उन्होंने बहुतेरे शेर, और गज़लें लिखीं जो बड़ी उच्च-कोटि की हैं पर विषाद से भरी हुई हैं। इन क़लामों को वह जो कोई उनसे मिलने जाता, उसे भेंट किया करते थे। इस तरह वे हिन्दुस्तान पहुँचे और लोगों में फैल गये। ये क़लाम आज भी कुछ बुजुर्गों को याद हैं, कुछ कव्वालों में प्रचलित हैं। कहते हैं कि इलाहाबाद हाई कोर्ट के भू० पू० जज सर सैयद महमूद के पास इन क़लामों का एक संग्रह था जो उन्होंने किसी अंग्रेज से, जोकि उन्हें रंगून से लेता आया था, प्राप्त किया था। इस सम्बंध में उनके पुत्र सर रॉस मसूद ने अपने एक पत्र में लिखा था—"मेरे वालिद को बहादुर शाह मरहूम का वह तमाम क़लाम खुद याद था

१. प्रेम भाव रखने वाला। २. पीर फखरुद्दीन या धर्म के गौरव—दो अर्थों में लिखा गया है। ३. अशोक वृक्ष। ४. जंगल का एक दरख्त। ५. वन के कांटे।

जो उन्होंने रंगून के ज़मान-ए-क़याम में कहा था। वजह इसकी यह थी कि मेरे वालिद को उन मसाएब के साथ बेहद हमदर्दी थी जो मुग़लों के आख़िरी बादशाह को उठानी पड़ीं।"

स्थानाभाव से 'ज़फ़र' के रंगून में लिखे गये क़लामों में से हम ज्यादा यहाँ न दे सकेंगे, पर कुछ पेशे नज़र हैं।

एक ग़ज़ल देखिये कितनी पुर असर है—

कभी बन-संवर के जो आ गये तो बहारे-हुस्न दिखा गये,
मेरे दिल को दाग़ लगा गये, यह नया शगूफ़ा खिला गए।
कोई क्या किसी का लुभाये दिल, कोई क्या किसी से लगाये दिल,
वह जो बेचते थे दवा-ए-दिल, वह दूकान अपनी बढ़ा गये।
जो मिलाते थे मेरे मुंह से मुंह, कभी लब से लब, कभी दिल से दिल,
जो गुरूर था वह भी यह था, वह सभी ग़रूरों को ढा गये।
मेरे पास आते थे दम-ब-दम, वह जुदा न होते थे एकदम,
यह दिखाया चर्ख़ ने क्या सितम कि मुझी से आंखे चुरा गये।
बंधे क्यों न आँसुओं की झड़ी, कि यह हसरत इनके गले पड़ी,
वह जो काकुले थीं बड़ी-बड़ी, वह उन्हीं के पेच मे आ गये।

रंगून के कारागार में बैठे हुए बादशाह पिछले दिनों का—दिल्ली के क़िले और बाशिन्दों का—काल्पनिक चित्र देखा करते थे तथा उनकी याद में निराशा के आंसू बहाया करते थे।

दिल्ली का ही एक अन्य काल्पनिक चित्र देखिए—

जहाँ वीराना है, पहले कभी आबाद घर यां थे,
शगाल[1] अब है जहाँ बसते, कभी रहते बशर यां थे।
जहाँ फिरते बगूले[2] हैं, उड़ाते खाक सहरा मे,
कभी उड़ती थी दौलत रक्स[3] करते सीमे-बरयां थे।
'ज़फ़र' अहवाल आलम का कभी कुछ है, कभी कुछ है,
कि क्या-क्या रंग अब है और क्या-क्या पेश्तर यां थे।

जेल में रहकर भी जफ़र ने कभी दुश्मनों के—अंग्रेजों के—सामने सिर न झुकाया। कहते हैं, एक बार किसी पादरी ने उन्हें चिढ़ाने के उद्देश्य से एक शेर जाकर सुनाया, जिसमें 'शमशेरे हिन्दोस्तान' के सदा के लिए सो जाने का संकेत था। वह यों था—

---

१. गीदड़। २. वायु का बवंडर। ३. नृत्य।

दमदमे में दम नहीं, अब ख़ैर माँगो जान की,
ऐ 'ज़फ़र' बस हो चुकी शमशीर हिन्दोस्तान की।

ज़फ़र ने जवाब में जो शेर पढ़ा, वह देखिए—

हिन्दयों में बू रहेगी जब तलक ईमान की,
तख़्ते लंदन पर चलेगी तेग़ हिन्दोस्तान की।

और भी कहा है—

बला से ख़ाक हो जायेंगे जलकर सोज़िशे ग़म से,
मगर मुँह से न उफ़ हम ग़मगुसारों में निकालेंगे।

फिर फर्माते हैं—

न पायेगा कोई हमको बेरंग नक़्शे क़दम,
हम ऐसा ख़ाक में अपना निशां मिला देंगे।

और देखिए उनकी इन पक्तियों में कितना विषाद भरा है—

थे जहाँ अपने क़वी[1] जिनके सहारे बाज़ू,
नज़र आते नहीं वह हाय! हमारे बाज़ू!
जो पहले थे यार अपने अब उनको कहाँ ढूंढ़ें?
बाक़ी है निशां किसका हम किसका निशां ढूंढ़ें?
फिर ख़्वाब में भी वह नज़र आया न ऐ 'ज़फ़र',
आंखों के सामने से जो आलम निकल गया।
गया क्या-क्या गुज़र आलम 'ज़फ़र' आँखों के आगे से,
कहें क्या हमने जो यां मिस्ले चश्मे नक्शे पा देखा।
अज़ीज़ो काम न किस का यहाँ बना, बिगड़ा,
हमारे पेशे नज़र एक जहाँ बना, बिगड़ा!

रंगून में इसी तरह दुःख के दिन काटते हुए बरसों बिताये। फिर मानों यह कहते हुए कि—

"खिलाया ग़म, पिलाया ख़ूने-दिल महमानवाज़ी का,
तेरे एहसानमंद ऐ चर्ख़, हम दुनिया से जाते हैं![2]

ज़फ़र ने अपनी मानव-लीला समाप्त की। भगवान् भक्तवत्सल हैं, फिर भी बहादुरशाह जैसा एक भगवद्-भक्त, धर्म-परायण, करुण-हृदय, सभी धर्मों और मनुष्यों के साथ समान रूप से प्रेम करने वाला बादशाह— फ़क़ीर राजच्युत हो कर स्वदेश से दूर शरीरकष्ट एवं मनस्तंप झेलता हुआ इस संसार से विदा हुआ। क्यों? कुछ समझ में नहीं आता। तभी तो

१. मज़बूत। २. अकबर इलाहाबादी का एक शेर।

एक भक्त का हृदय चिल्ला उठा था—

दयानिधि, तेरी गति लखि ना परे !

'ज़फ़र' के जीवन-पृष्ठों पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो उनका ही एक शेर बारम्बार स्मरण हो जाता है—

ख़्वाब थी वह ज़िन्दगी जाहो-हशम मे कट गयी,
वर्ना अपनी उम्र सारी दर्दो-ग़म मे कट गयी।

११

क़लामे ज़फ़र

दिल्ली की वीरांगना तूफानी सत्यवती देवी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में राजयक्ष्मा से पीड़ित होकर अस्पताल में पड़ी हुई थीं। स्पष्ट था कि उनका जीवन-दीप निर्वाणोन्मुख है। वह स्वयं भी इस बात को जानती थीं। जीवन और मृत्यु की इस सन्धि-बेला में एक गीत था, जो उन्हें अत्यधिक सान्त्वना देता था। बहुत धीमी आवाज़ में गुनगुनाया करती थीं।

न किसी की आँख का नूर हूँ
न किसी के दिल का करार हूँ;
जो किसी के काम न आ सके
मैं वह एक मुश्तेगुबार हूँ।

दरअसल यह गीत, शाही मुग़ल वंश के अन्तिम सम्राट् बहादुर-शाह ज़फ़र का आत्म-परिचय है। गीत का शेषांश इस प्रकार है—

मैं नहीं हूँ नग़मा-ए जां फ़िज़ा
कोई सुन के मेरी करेगा क्या;
मैं बड़े ही दर्द की हूँ सदा
किसी दिलजले की पुकार हूँ।
कोई पढ़ने फातेहा-आये क्यों,
कोई चार फूल चढ़ाये क्यों,
कोई आके शमा जलाये क्यों,
कि मैं बेकसी का मज़ार हूँ।
न 'ज़फ़र' किसी का रकीब हूँ,
न 'ज़फ़र' किसी का हबीब हूँ,
जो बिगड़ गया वह नसीब हूँ,
जो उजड़ गया वह दयार हूँ।

हिन्दुस्तान के राजनीतिक व्योम-मण्डल में जिन दिनों मुग़ल-साम्राज्य का सूर्य अस्तप्राय था, साहित्य-गगन में उर्दू-शायरी का नक्षत्र देदीप्यमान था—शबाब पर था। ज़ौक़ ने लिखा था—'गर्चे है मुल्के-दक़न में आज दिन कद्रे-सुख़न' और यह सच है कि दक्षिण के गोलकुंडा,

बीजापुर आदि राज्यों में उर्दू के शायरों की बड़ी कद्र थी, तथा उर्दू-साहित्यिकों का वह एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र-स्थान, अड्डा-सा हो रहा था। इधर देहली में शाह आलम के शासन काल में उसने तरक्की पायी तथा विशुद्ध, पारिमार्जित, उर्दू—जिसे आगे चलकर उर्दू वाले 'टकसाली उर्दू' के नाम से पुकारने लगे—की वह जननी बनी। वली, जिन्होंने सन् १८६८ ई० में औरंगाबाद (दक़न) में जन्म पाया था, के कारण देहली की इस टकसाली उर्दू की प्रगति में काफ़ी इजाफ़ा हुआ। वली दक़न त्याग कर देहली चले आए तथा उन्होंने उर्दू साहित्य में एक ख़ास काव्य-धारा की नींव डाली—उर्दू में सर्वप्रथम उन्होंने ही ग़ज़ल लिखनी शुरू की और इस परम्परा के अगुआ बने। मीर दर्द, सौदा (१७१३-१७८१) आदि ने उनका अनुसरण किया।

सौदा[1] पर अधिक दिनों तक देहली में न रहे, लखनऊ चले गए तथा कुछ ही दिनों में लखनऊ भी उर्दू के मशहूर शायरों के लिए एक आकर्षण-केन्द्र-सा बन गया। नवाब शुजाउद्दौला एवं वाजिद अली शाह—दोनों ने उर्दू साहित्य को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया तथा मीर तकी, अनीस, दाबिर आदि जैसे महान् कवियों की बड़ी इज़्ज़त के साथ अपने यहाँ बुलाया, रक्खा। स्वयं नवाब वाजिद अली शाह को साहित्य से बड़ा प्रेम था तथा उन्होंने फ़ारसी, उर्दू, संस्कृत, ब्रज-भाषा आदि में कविताएँ लिखीं। संगीत में ठुमरी के आविष्कार-कर्ता वही थे तथा उनके कारण कुछ ही दिनों में इसने काफ़ी लोकप्रियता भी हासिल की।

देहली फिर भी उपर्युक्त दोनों साहित्य-केन्द्रों से बढ़ी-चढ़ी रही। मोमिन खाँ (१८००-५१) ने जिस गीति-काव्य (Lyric) की परम्परा क़ायम की, वह जौक़ और ग़ालिब के द्वारा अति उन्नतावस्था को प्राप्त हुई। सन् १८२३ में उर्दू का राज्य भाषा बन जाना भी इसकी तरक्की का एक ज़बर्दस्त कारण हुआ। यही वातावरण था जिसमें देहली के अन्तिम मुग़ल बादशाह बहादुर शाह द्वितीय ने आंखें खोलीं। क़िले में दिन-रात शेर और शायरी की महफ़िलें गर्म रहती थीं तथा साहित्य के नगाड़े बजते रहते थे। आश्चर्य नहीं कि कम ही उम्र से वह सुख़नफ़हमी में दखल रखने लगे

१. कहते हैं, उर्दू में सर्वप्रथम सौदा ने ही कसीदे लिखे।

में उनके सम्बन्ध में कुछ ग़लत बातें लिखकर उनकी ख्याति के मार्ग में बाधक हुए। पर उनके वे कथन आगे चल कर प्रमाणित न हो पाये।

ग़रज़ यह कि कई ऐसी बातें हुईं जिनके कारण 'ज़फ़र' काव्य-साहित्य में वह स्थान और प्रसिद्धि न पा सके जिसके वह सर्वथा योग्य थे और उर्दू-साहित्य के प्रधान शायरों में उनका शुमार न हुआ। पर यदि हम उनकी रचनाओं पर गौर से नज़र डालें तो उनमें कई ऐसी खूबियाँ पायेंगे जो उनकी अपनी हैं। प्रचलित प्रणाली के अनुसार उन्होंने भी शाह नसीर—जिनकी शाह आलम भी बड़ी कद्र करते रहे—से पिंगल-शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की, फिर कुछ दिन मीर काज़िम हुसैन के शागिद रहे और पीछे चल कर ज़ौक़ तथा ग़ालिब से मशवरे-सुख़न करते रहे, पर उनकी नकल न की, अपनी रचनाओं में एक नयापन रखा, मौलिकता रखी। ज़ौक़ के वह सबसे अधिक प्रेमी थे। स्वभावतः उनकी मृत्यु के बाद बार-बार उनकी याद में तड़पते रहे, लिखा—

> बे-ज़ौक़ ज़रा लुत्फ नहीं शेरोसुख़न में,
> इस रमज़े नेहानी को कोई पूछे 'ज़फ़र' से।
> तेरा मज़ाक-ए-शेर 'ज़फ़र' जानता है कौन ?
> उस्ताद ज़ौक़ था तेरा वाकिफ़ मज़ाक से।

पर आँखें मूँद कर उनका पदानुसरण न किया। उन्होंने स्वयं फ़रमाया है—

> ऐ 'ज़फ़र' अपनी रियाज़त का न जब तक बल हो,
> न तो बल पीर का काम आए न उस्ताद का बल।

अर्थात् अपने बल और अपनी साधना के बिना न तो कोई भौतिक-जगत् में उन्नति कर सकता है और न अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। उर्दू के सभी प्रचलित शब्दों में 'ज़फ़र' ने शायरी की, फ़ारसी एवं पंजाबी भाषाओं में भी, पर जिस चीज़ में उन्होंने सबसे बड़ी कामयाबी हासिल की, और बड़ी खूबसूरती के साथ, वह था तग़ज्ज़ुल (ग़ज़ल)। उनकी गज़लें आज भी अपना ख़ास स्थान रखती हैं। एक ग़ज़ल की ये चार पंक्तियाँ देखिए, कितना सुन्दर ढंग है कहने का !

> जलाया आप हमने ज़ब्त करके आहे सोज़ां को,
> जिगर को, सीने को, पहलू को, दिल को, जिस्म को, जां को।

जगह किस-किस को दूँ दिल में तेरे हाथों से ऐ क़ातिल,
कटारी को, छुरी को, बांक को, खंजर को, पेकां को।

एक और—

नहीं कुलकुल दुआ देता है शीशा दमबदम साक़ी,
सुबू को, खुम को, मय को, मयकदे को, मय परस्तां को।

'ज़फ़र' ने जो कुछ भी लिखा सच्चाई से लिखा, अनुभूति की नींव पर अपने क़लामों की इमारत उठायी। भाषा में सादगी, भाव में गहराई—यह उनकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। शब्दों के आडम्बर में अपनी रचनाओं को बाँधने की चेष्टा न की। इनमें जो कुछ भी है वे दिल से निकली हुई बातें हैं और इसीलिए यद्यपि उनमें आँखों को चकाचौंध में डालने वाली शक्ति नहीं है, दिल पर असर करने वाली ज़रूर है। नीचे उनके कुछ ऐसे क़लाम दिए जाते हैं, जो इन बातों की पुष्टि करते हैं—

१—खूब ढूँढ़ा खूब देखा, कुछ नज़र आया नहीं,
आज तक अपने में हमने आपको पाया नहीं।

२—देखा न तुझको हम यूँ ही महरुम ही चले,
आए थे तेरी दीद को किस इशतियाक़[1] से।

३—अजब रविश से उन्हें हम गले लगा के हँसे,
कि गुल तमाम गुलिस्ताँ में खिलखिला के हँसे।

४—जब खिलखिला के साक़ी-ए-गुलफाम हँस पड़ा,
शीशे ने कहकहे लिए और जाम हँस पड़ा।
था गुन्चा दिल गिरफ़्ता नेहायत चमन में आज,
पर कुछ दिया सबा ने जो पैग़ाम हँस पड़ा।

५—मत उठा आसूदगाने खाक को ऐ रोज़े हश्र[2],
एक ज़रा राहत हुई है उनको मर-मर के नसीब।

सौदा के इस शेर से इसकी तुलना करें—

'सौदा' के जो बाली पै हुआ शोरे क़यामत,
खुद्दामे अदब बोले अभी आँख लगी है।

६—वह तीर और है जिस तीर का फ़िगार हूँ मैं,
वह दाम और है जिस दाम का शिकार हूँ मैं।
वह कारवां कि जो मंज़िल पै अपनी आ पहुँचा,
उसी के पीछे रवां सूरते गुबार हूँ मैं।

---

१. उत्कट आकांक्षा। २. प्रलय।

न मैं हूँ तायरे-बिसमिल[1] न माहि-ए-बेआब,
इलाही क्या हूँ मैं बेताब व बेक़रार हूँ मैं।
समझते इश्क में बेहोश व बेख़बर है मुझे,
ख़बर नहीं कि ख़बरदारी होशयार हूँ मैं।

'वह कारवां कि जो……' हाली का इससे मिलता-जुलता एक शेर है—

याराने तेजगाम ने मंजिल को जा लिया,
हम महवे नाल-ए-जरसे कारवां रहे।

'नाशाद' का यह शेर भी काबिले-ग़ौर है—

कारवां के साथ चलने की नहीं ताक़त मगर,
हाँ, बढ़ा जाता हूँ गर्दे कारवाँ को देखकर।

७—अक्ल पर नाज है, कुदरत पै नजर किस को है,
सब को फ़िक्र आज की है, कल की ख़बर किसको है !

आजकल के वैज्ञानिकों पर यह शेर ख़ूब मौजूं बैठता है। अक़बर साहब ने भी फ़रमाया था—

'बस ख़ुदा समझा है उसने बर्क को और भाप को।'

८—बात करनी हमें मुश्किल कभी ऐसी तो न थी,
जैसी अब है तेरी महफ़िल कभी ऐसी तो न थी !

इक़बाल—ये दस्तूरे ज़बांबन्दी है कैसा तेरी महफ़िल में,
यहाँ तो बात करने को तरसती है ज़ुबाँ मेरी।

९—सोहबते गुल है फ़कत बुलबुल से क्या बिगड़ी हुई,
आजकल सारे चमन की है हवा बिगड़ी हुई।

अक़बर—आजकल बिगड़ी हुई है कुछ हवा-ए-गुलसितां,
बागवां पर गुन्चे हँसते हे गुलों पर बागबाँ।

१०—जो तेरी बेवफ़ाई पर दिल इतना मुब्तिला होवे,
अगर तुझ में वफ़ा होवे तो फिर क्या जाने क्या होवे !

मीर असर ने भी लिखा है—

दोस्त होता अगर तो क्या होता,
दुश्मनी पर तो प्यार आता है।

११—क्या सुने फरियाद मेरी है वह गुल नाज़ुक दिमाग़,
बाग़ में गुन्चा अगर चटके कहे गुल क्यों हुआ ?

---

१. घायल पक्षी।

शाह अजीमाबादी—

सुनी हिकायते[1] हस्ती तो दरमियां[2] से सुनी,
न इब्तदा की ख़बर है न इन्तहा मालूम।

१२—यां आये कहाँ से हैं कहाँ जायँगे यां से,
हैरां है 'ज़फ़र' हम पै मोअम्मा[3] नहीं खुलता।

१३—बरसा हज़ार बार यहाँ अब्र नौ-बहार,
नख्ले[4] मुराद पर न हुआ अपना आह सब्ज़!

१४—अल्ला अल्ला रे इन बुतां का ग़रूर,
यह खुदाई नहीं तो फिर क्या है?
मौत आई तो टल नहीं सकती,
और आई नहीं तो फिर क्या है?
नहीं रोने में गर 'ज़फ़र' तासीर,
जग-हँसाई नहीं तो फिर क्या है?

१५—न तो कुछ कुफ्र है न दीं कुछ है,
है अगर तो तेरा यक़ीं कुछ है।
दैरोकाबा[5] में ढूँढ़ता क्या है,
देख दिल में कि बस यहीं कुछ है।

१६—बदनाम है जहां में 'ज़फ़र' जिनके वास्ते,
वह जानते नहीं कि ज़फर किसका नाम है!

१७—वाह इस सूरतकदे में देखते ही देखते,
सूरतें क्या-क्या नजर से अपनी पिनहां[6] हो गयीं!

ग़ालिब—सब कहाँ कुछ लाल-ओ-गुल में नुमायां हो गयीं,
ख़ाक में क्या सूरते होंगी कि पिनहां हो गयीं।

१८—तसव्वुर[7] में कभी तस्वीर उनकी देख लेते हैं,
अब उनसे हम जो मिलते हैं तो इस सूरत से मिलते हैं।

मौजी—दिल के आईने में है तस्वीरे यार,
जब कभी गर्दन झुकायी, देख ली।

१९—शमा जलती है पर इस तरह कहाँ जलती है,
हड्डी हड्डी मेरी ऐ सोज़े निहां जलती है।

२०—तू है तो तेरे चाहने वाले भी बहुत हैं,
पत्थर में भी अल्लाह का दीदार बहुत है।

---

१. किस्सा। २. बीचोंबीच। ३. भेद। ४. आशा-वृक्ष। ५. देर जहाँ बुतों की पूजा होती है। ६. छुप जाना। ७. ख्याल।

इन चन्द क़लामों से ही पाठक 'ज़फ़र' की शायरी, श्रेष्ठ काव्य-प्रतिभा का अनुमान कर सकते हैं, भाषा की सादगी एवं भाव की गहराई का भी।

'ज़फ़र' के अन्तिम दिन जेल में कटे। ग़दर के बाद अंग्रेज़ों ने उन्हें गिरफ़्तार किया, और रंगून ले गये। वहीं सन् १८६२ ई० में उन्होंने मानव-लीला समाप्त की।

रंगून में लिखी गईं उनकी सारी रचनाएँ विषाद से भरी हैं।* नमूने देखिए—

१—गयी यकबयक जो हवा पलट,
नहीं दिल को मेरे करार है,
करूँ ग़म-सितम का मैं क्या बयाँ,
मेरा सीना ग़म से फ़िगार[1] है।
वह जो शहर देहली का था चमन,
वहां सब तरह की थी अंजुमन,
वह जो नाम था सो मिटा दिया,
फ़कत अब तो उजड़ा दयार है।
वह रैंआया-हिन्द तबाह हुई,
कहाँ मन पै कैसी जफ़ा हुई,
जिसे देखा हाकिमे-वक्त ने,
कहा यह तो काबिले-दार[2] है।
न दबाया ज़ेरे-चमन[3] उन्हें,
न दिया है ग़ुस्ल-क़फ़न उन्हें,
किया यारो किसने दफ़न उन्हें,
बे ठिकाना जिनका मज़ार है।
शबो-रोज़ फूलों मे जो तुलें,
कहो क़ैदे ग़म में न क्यों घुलें,
गले तौक़, पाँवों में बेड़ियां,
कहा गुल के बदले यह हार है।

* एक अंग्रेज लेखक के शब्दों में, बादशाह की दर्द-भरी गज़लें ब्रिटिश के खिलाफ बलवाइयों की बन्दूकों से कहीं ज्यादा कारगर साबित हुईं—

"The plaintive Ghazls of the king proved more effective weapons against the British than all the guns of the mutineers."

१. घायल। २. कत्ल करने के काबिल। ३. बाग़ : देहली की ज़मीन के नीचे।

ऐ 'ज़फ़र' तू इतनी न फ़िक्र कर,
कि मिलेगा तुझको एरम[1] मे घर,
तुझे है वसीला[2] रसूल का,
वह तो तेरा हामि-ए-कार[3] है।*

२—शमा महफ़िल ने कहा रो-रो के शबे ग़ुलगीर से,
क्या बबाले सर से यह मेरा ताजेज़र पैदा हुआ।

३—क्यों वादी-ए-वहशत मे न खटका रहे मुझको,
हर झाड़ है दुश्मन मेरा हर खार मुखालिफ़।

४—ख़ुदा के रूबरू इज़्ज़त रहे जो अहले दुनिया ने,
मेरी ताज़ीम कम कर दी, मेरी तौकीर कम कर दी।

आजकल चापलूस, जी-हज़ूर, लोगों की कमी नहीं, बल्कि भरमार है। इसका नज़ारा देहली में तो खूब ही देखने को मिलता है। देखिए, ऐसे लोगों के सम्बन्ध में ज़फ़र ने कैसे उद्गार प्रकट किये थे, ऐसे सत्य जोकि आज भी उतने ही संगत हैं जितना कि आज से सौ साल पहले—

करते हैं ज़ाहिर लुत्फ़ो इनायत, मुँह के ये मीठे हैं निहायत,
दिल मे इनके ज़हर भरा, ये किसके हुए और किसके होंगे ?
कौलो-कसम सब इनके ग़लत हैं, अपनी ग़रज़ के यार फ़कत हैं,
जानते हैं सब इनको हम ये, किसके हुए और किसके होंगे ?
जितनी-जितनी लोग जताते अपनी यारी मुँह से हैं,
उतनी इनकी हम भी करते ख़ातिरदारी मुँह से हैं।
मुँह से मीठे, दिल से कड़वे, अहले दुनिया देख लिए,
झूठी-झूठी करते ख़ुशामद आ के हमारी मुँह से हैं।

शक नहीं कि देहली में रहते-रहते भी उन्हें लोगों की अकृतक्षता एवं कपट के कड़वे घूँट पीने पड़े थे, तभी तो उन्होंने कहा था—

देते हैं तोड़ के टुकड़ा-सा मुझे साफ़ जवाब,
ऐ 'ज़फ़र' खा के पले जो मेरे घर के टुकड़े।
हैं लोग दग़ाबाज़ हुए गिर्द हमारे,
महफ़ूज़ ख़ुदा रक्खे 'ज़फ़र' इनकी दग़ा से।

---

१. स्वर्ग। २. ज़रिया। ३. काम में मदद देने वाला।

*कई लोगों का कहना है कि यह नज्म "हेसामी" नामक एक शायर का लिखा हुआ है, पर दरअसल यह ज़फ़र का लिखा है।

दोस्त अपने हुए 'ज़फ़र' दुश्मन,
इस मुसीबत को कौन पहचाने ?

फिर जिन दिनों वह रंगून जेल में बीमारी की अवस्था में पड़े हुए थे, अपने वतन हिन्दुस्तान की ओर मानो देखते हुए, दर्द भरे शब्दों में कहा--

अपने मरने का ग़म नहीं लेकिन,
हाय, तुझसे जुदाई होती है !

और आंखें मूंद लीं, जेल का पिंजड़ा ख़ाली हो गया। पर जाते-जाते भी कह गये--

ख़ार हश्रते कब्र तक दिल में खनकता जायगा,
मुर्ग़ बिस्मिल की तरह लाशा फड़कता जायगा।
देखिए कबतक जवाबे-खत से आंखें शाद हों,
रास्ता देखा नहीं, क़ासिद भटकता जायगा।
जान जायेगी जो इश्क़े-आरिज़े-गुल-रंग[1] में,
तख़्त-ए-ताबूत[2] मिस्ले गुल महँकता जायगा।
मैं वह कुश्ता हूँ कि मेरी लाश पर ऐ दोस्त,
एक ज़माना दीद-ए-हसरत से तकता जायगा।
ऐ 'ज़फ़र' क़ायम रहेगी जब तलक अक्लीमें[3] हिन्द,
अख़्तरे[4] एक़बाल इस गुल का चमकता जायगा।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने जिसके लिए दुआ माँगी थी—

बज़्मे-शाहंशाह में अशआर का दफ़्तर खुला,
रखियो या रब ये दरे-गंजीनए-गौहर[5] खुला।

खेद है, कि उसके साथ उर्दू साहित्य ने औचित्य का व्यवहार न किया और उसके सम्बन्ध में या तो अज्ञानतावश या और कारणों से जो अज्ञात हैं, कतिपय साहित्यालोचकों ने भ्रमपूर्ण, आधारहीन, बातें लिखकर ग़लतफहमियां फैलायीं और उनके साहित्य-संसार में समुचित स्थान न पाने के कारण हुए। अभी पिछले दिनों मेरी नज़र एक पुस्तक पर पड़ी, जिसे भारतीय ज्ञानपीठ काशी ने प्रकाशित किया है—

---

१. फूल के रंगीन चेहरे का प्रेम। २. वह जिस पर लाश रख कर ले जाते हैं। ३. सल्तनत। ४. चमकता हुआ सितारा। ५. मोतियों के ख़ज़ाने का दरवाज़ा।

'शेर-ओ-सुखन'। विद्वान लेखक के 'जफर' सम्बन्धी विचारों को पढकर मै हैरत मे आ गया और शायद पाठक के मनोभाव भी उन्हे पढकर कुछ मुझ-जैसा ही होगे। वह लिखते है—

"जफर की शायरी वही पुराने ढर्रे की शायरी है। उसका माशूक बाजारी भी है और मध्यम भी है। उसके कलाम मे वही वस्ल की ख्वाहिश, गिले-शिकवे, हिज्र के सदमे, बोसे-बाजी, चूमा-चाटी के शेर कसरत से है। जफर के दीवान मे नासिख की खारजी शायरी, जुरअत की मुआमले बन्दी और अमरदपरस्ती के अशआर की भरमार है।"

जफर के दीवान की जो प्रति इन पक्तियो के विद्वान लेखक को मिली वह शायद वही थी जिसकी छपाई की गदगी की ओर इशारा करते हुए उन्होने लिखा है—"पढते हुए ऐसा मालूम होता है कि चिरायत की घूट भरी जा रही है।" निश्चय ही उन्होने 'इस फटे हुए चारो भागो' को पूरी तरह नही पढा वर्ना ऐसी बाते न लिखते। जफर के कलाम ज्यादातर ऐसे है जो शृगारी नही है—बाजारी तथा मध्यम माशूको से जिनका सम्बन्ध नही है। वे या तो उनके, चूकि उनके जीवन का अधिकाश हिस्सा 'दर्दोगम' और नैराश्य मे व्यतीत हुआ, विषाद भरे हृदय के उद्गार है या आध्यात्मिक है जिनकी मिसाले इस पुस्तक के पृष्ठो मे जहाँ-तहाँ प्रचुर परिमाण मे प्राप्त है। प्रचलित प्रणाली के अनुसार उन्होने शृगारी कविताएँ भी लिखी है, पर न तो उनका बाहुल्य है और न वे 'थर्डरेटी' है जैसा कि 'शेर-ओ-सुखन' के विज्ञ लेखक की उपर्युक्त पक्तियो से जाहिर होता है। गालिब उन लोगो मे है जिनके शब्दो का—कथन का—अत्यधिक महत्त्व है। उन्होने एक नही, बार-बार 'जफर' की रूहानियत का जिक्र किया है, उनकी दीदारी की तारीफ की है। रिन्द ने भी कहा है—

नागा हो जाय, जिक्र क्या है,
कुरआन अबु जफर बहादुर !

'जफर' ने जगह-जगह पर 'यार' और उसकी तस्वीर की चर्चा अवश्य की है, यथा—

'ऐ 'जफर' पेशे नजर यार की तस्वीर को रख,'

तथा मयखाना एव शराब की भी, पर अधिकाशतः यार का मतलब खुदा से तथा शराब का दिव्य-प्रेम से है। आध्यात्मिकता से ओतप्रोत उनके काव्य

को घटिया एवं शृंगारी (और वह भी बाज़ारू ढाँचे का!) बताना उसके प्रति घोर अन्याय करना है जिसने एक नहीं, बारम्बार कहा है--

मेरा हामी है, पेशवा है अली,
मेरे हर दर्द की दवा है अली,

और जो संसार से घबड़ा कर पुकारता है--

आइए अब तो मदद के वास्ते बहरे ख़ुदा,
या हुसैन इबने अली बन्दा बहुत लाचार है।

दरअसल 'ज़फ़र' के ज़्यादा क़लाम वैसे हैं जो माशूकाना नहीं और जिनका शृंगार से कोई सम्बन्ध नहीं है--नैतिक हैं, अध्यात्म भावों से ओतप्रोत हैं। एक-दो नहीं, सैंकड़ों ऐसे अशआर हैं जिनमें उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों तथा धार्मिक औदार्य्य का परिचय दिया है, बार-बार सत्य पर ज़ोर दिया है और असत्य की निन्दा की है, जैसे कि—

देख़ आईना सिफ़त साथ सफ़ाई के हमें,
खीशेकीना व आईने कदूरत से न देख!

आदि। और कहते हैं कि यदि किसी को बुरा देखना है तो वह औरों में नहीं, निज में ही देखे--

बुरा वह है हक़ीकत में
जो समझे आपको अच्छा,
बुरे सब से 'ज़फ़र' हम हैं
बुरा हम किसको कह बैठे।

महात्मा कबीर ने भी तो यही कहा था--

बुरा जो ढूँढ़न मैं चला,
बुरा न पाया कोय,
जो दिल ढूँढ़ा आपना,
मुझसा बुरा न होय।

जो दूसरों में बुरा ढुँढ़ते हैं उनसे वह कहते हैं—

बला से कोई गर बुरा या भला है,
हमें काम क्या है, और तुम्हें काम क्या है।
'ज़फ़र' अब किसी की बुराई, भलाई,
न तुम हमसे पूछो, न हम तुमसे पूछें।

रह-रह कर लोगों को इस जीवन की असारता का स्मरण दिलाते हैं, और उनसे कहते हैं—

यारो ! सफ़र का कुछ सरो-सामान तो करो,
जाना कहाँ है तुमको—ज़रा ध्यान तो करो !

धर्म के ढोंगियों को वह पूरी तरह पहचानते हैं, फिर भी कहते हैं—

जानते हैं अहले दुनिया,
किस तरह पढ़ते-नमाज़,
पर बला से सरकशों का,
सर जरा झुकता तो है !

मनुष्यत्व की उनकी परिभाषा देखिए, कितनी सुन्दर है—

'ज़फ़र' आदमी उसको न जानियेगा,
हो वह कैसी ही साहबे फहमो ज़का,
जिसे ऐश में यादे-ख़ुदा न रही,
जिसे तैश में ख़ोफ़े-खुदा न रहा ।

पारस्परिक कलह के वह बिल्कुल खिलाफ़ हैं, चाहे मज़हब, धर्म, से ही वह सम्बन्धित क्यों न हो, कहते हैं—

हो सुलहकुन ऐ दिल, कि सब उठ जाये लड़ाई,
काफिर न मुखालिफ हो, न दींदार मुखालिफ ।

यथार्थ मुसलमान वह उसे मानते हैं जो अहंकार-अहंभाव का परित्याग कर चुका है तथा संशयरहित है—

न तो कुछ कुफ्र[1] है, न दीन कुछ है,
है अगर तो तेरा यकीं[2] कुछ है ।
करते गुर्रे से जो यह दावा-ए-ईमां हैं हम,
कुफ्र यह है—इसे तोड़ें तो मुसलमां हैं हम ।
चार अनसर के अहाते में है कुछ जलवा अजीब,
देख मसजिद की अलग यह चार दीवारी है और ।

भगवान ने गीता में, संतों ने अपनी वाणियों में, युग-युग से यही कहा है कि संशयात्मा न बनो, हृदय में विश्वास लाओ—

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः (भगवद्गीता)

ज़फ़र ने बड़े ही सुन्दर ढंग से इस भाव को अपने शब्दों में दुहराया है। वह उन लोगों में हैं जो भिन्नता में अभिन्नता, हर चीज में

१. नास्तिक । २. विश्वास ।

परमात्मा की झलक पाते हैं। तथा भगवद्-विरह में बेचैनी का अनुभव करते हैं। वह हिन्दी में भी कविताएँ लिखा करते थे, देखिए अपनी इन हिन्दी रचनाओं में भी उन्होंने किस सुन्दरता के साथ, हृदय खोल कर, अपने उद्गार प्रकट किये हैं—

पेम अगन नित मोहे जरावे, या का भेद कहूँ कासे?
पी हो पास तो जी हो ठंडा, अपनी बिपता कहूँ वासे।
रतियां गुज़ारूँ रोवत-रोवत, दिन को गुजारूँ आहां खींच;
मेरे मन की मो सों न पूछो, पूछो मेरी बिपता से।
याही बिरहा दुर्जन होवे, याही बिरहा सुरजन होवे;
ना छूटे यह बिरहा मोसों, ना छूटूं मैं बिरहा से।
नैन खुले कुछ और ही देखूं, मूंदूं तो कुछ और ही और;
कोई वा का सांच न जाने, देखी बात कहूँ जासे।
मन के अन्दर पिया कलन्दर, तेर 'ज़फ़र' वह आन बसा,
काम पड़ा जब वासो तिहारो, काम रहा क्या दुनिया से?

कौन नगर से आये हम और कौन नगर के वासी हैं,
जायेंगे हम कौन नगर को होते मन में हरासे हैं।
कैसा मुल्क है कैसी चाल और कैसी ढाल,
या ही मन के अंदेशे और या ही जी को सासे है।
देश नया है भेस नया है रंग नया है ढंग नया,
कौन आनन्द करे है वां और रहते कौन उदासे हैं।
क्या क्या पहलू देखे हमने पहले इस फुलवारी में,
अब जो फले इसमें फल हैं कुछ और ही उनमें बासे हैं।
दुनिया है एक रैन बसेरा बीत गई रही थोड़ी सी,
उनको कह दो सो न जायें नींद में जो निंदासे हैं।

फिर उर्दू के इस क़लाम में बड़ी ही बेचैनी के साथ संसार से छुटकारा पाने की कामना करते हैं--

न हो दामे अलाए-के जिस्म,
अगर करूं आलमे कुदुस की सैर 'ज़फ़र',
कोई ऐसा हो कामिल पाक नज़र,
जो क़ैद है उससे छुड़ा दे मुझे!

यह जो पड़ा है परद-ए-गफ़लत,
अपने दीद-ए-दिल पर 'ज़फ़र',
कोई अगर दे इसको उठा,
क्या अच्छा हो, क्या अच्छा हो !

कितनी मार्मिक उच्च भावनाएँ हैं ये । इनके सम्बन्ध में 'शेरो-सुख़न' के योग्य लेखक का यह कहना कि 'उनके क़लाम में वही वस्ल की ख्वाहिश, गिले-शिकवे, हिज्र के सदमे, बोसे-बाज़ी, चूमां-चाटी के शेर' हैं तथा उन्हें 'पढ़ते हुए ऐसा मालूम होता है कि चिरायत की घूँट भरी जा रही है' कितना न्यायसंगत है इसका निर्णय पाठक ही करें ।

'ज़फ़र' के सम्बन्ध में मिर्ज़ा ग़ालिब ने कहा था—

'क्यों न हो ख़लक को ख़ुशी 'ग़ालिब',
शाहे दींदार ने सफा पायी ।'

और इसमें शक नहीं कि उनका यह कथन सत्य ही नहीं, पूर्णतः सत्य था, 'ज़फ़र' की रचनाओं से उनकी दींदारी साफ़-साफ़ परिलक्षित है ।

गरज़ यह कि भाव-दृष्टि से 'ज़फ़र' की रचनाएँ आध्यात्मिक हैं तथा हृदयग्राही हैं । साथ ही, शब्दाडम्बरी से रहित हैं । उनकी भाषा बोल-चाल की, मोहावरेदार, अत्यन्त सीधी-सादी है । बनावटीपन का उसमें बिल्कुल ही अभाव है ।

'ज़फ़र' किन्तु, सादगी के साथ शब्दों में जो ख़ाका खींचते हैं वह काबिले-तारीफ है । एक शेर देखिए—

क्या रंग दिखाती है यह चश्मतर ओ हो हो !
ख़ूने जिगर आ हा हा ! लख्ते जिगर ओ हो हो !

एक दिवाने का कैसा सुन्दर चित्र इन दो पंक्तियों में अंकित है । अपने दामन पर ख़ूने दिल और लख्ते जिगर देखकर मानो वह क़हक़हे लगा रहा है !

एक दूसरा चित्र देखिए—

हम न समझे तेवरी पर इस क़दर क्यों बल दिये,
और फिर क्यों मुसकुरा कर आप चुपके चल दिये ।

एक सुन्दर उपमा भी—

दिल हाथ में उसका लिया पर है 'ज़फ़र' यह हाल,
जुम्बिश में रहे जैसे कि सागर के तले हाथ ।

जज़बात (भाव) में 'ज़फ़र' को जो कमाल हासिल है उसकी सानी उर्दू शायरों में कम ही ऐसे हैं जो रखते हों। एक नमूना देखिए—

रहता जबान पर आठ पहर किसका नाम है,
करता है जो यह दिल में असर किसका नाम है।
बदनाम है जहाँ में 'ज़फ़र' जिनके वास्ते,
वह जानते नहीं कि ज़फ़र किसका नाम है!

जैसा कि मैं पहले लिख आया हूँ, ज़फ़र की शायरी की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह बनावटी नहीं बल्कि दिल से निकली हुई है—कृत्रिमता से रहित है। वह खुद फर्माते हैं—

'ज़फ़र' शेरोसुखन से राजे दिल क्योंकर न हो जाहिर,
कि ये मज़मून सारे दिल के अन्दर से निकलते हैं।

अक़बर इलाहाबादी ने लिखा है—

क्योंकर न शेरे 'अक़बर',
आये पसंद सब को,
यह तर्ज ही नया है,
कूचा ही दूसरा है।

पर ज़फ़र मज़मून की खूबी नये तर्ज़ और कूचे में नहीं मानते बल्कि इस बात में कि वह हृदय के निकले हुए उद्‌गार हैं, महज साहित्य-बाटिका के सजाये हुए फूल नहीं। सही है कि कवि जब अपना हृदय फाड़ कर श्रोता के सामने रख डालता है तभी उसके दिल को प्रभावित करता है। क्रौंच-बध से पीड़ित कवि के हृदय का उद्‌गार ही तो काव्य-सृष्टि का कारण बना जबकि दु:ख और करुणा से भरा हुआ कवि का अन्तर आप-ही-आप बोल उठा था—

मा निशाद ! प्रतिष्ठात्वं प्रगमः शाश्वतीः समाः,
यत्क्रौंचमिथुनादेकं न्यवधीः काममोहितम्।

ज़फ़र के अंतिम दिन रंगून के जेल में बीते। स्वभावतः उनके वे कलाम जोकि उन्होंने जीवन के सान्ध्यकाल में लिखे, विषाद से भरे हुए हैं। ज़िन्दगी के आरम्भ से ही उन्हें तकलीफों, सदमों, झंझटों तथा निराशाओं का सामना करना पड़ा था। पिता अक़बर शाह द्वितीय उनसे नाखुश रहे और उन्हें उत्तराधिकारी बनाने से इन्कार करते रहे। फिर भी वह तख्तनशीन हुए पर एक ऐसे साम्राज्य के जो अस्तप्राय था। अंग्रेज़ जोकि

मुग़ल दरबार में प्रार्थी-रूप में दाखिल हुए और बंगाल-बिहार सूबे की दीवानी हासिल की, अब सल्तनत के पूरे मालिक बन चुके थे। बहादुर शाह नाम के बादशाह थे, यथार्थ सत्ता अंग्रेजों के हाथ थी। फलत: ज़फ़र अपनी बहुतेरी अभिलाषाओं को पूरा न कर पाये। अर्थाभाव से भी मजबूर रहे। जोकि मुग़ल बादशाह के राजनैतिक--पोलीटिकल--अधिकार प्राय: समाप्त से थे, समाज में उनकी अब भी पूरी क़द्र थी तथा मुगल दरबार एक सांस्कृतिक केन्द्र बना हुआ था जहाँ हिन्दू तथा मुसलिम संस्कृतियों की धाराएँ—प्रयाग में गंगा-यमुना की धाराओं की भाँति—मिलकर एक समन्वित संस्कृति का निर्माण करती थीं। इस पुस्तक में दो चित्र मुग़ल दरबार तथा मुगल बादशाह के एक जुलूस में प्रकाशित हैं जिनका सम्बन्ध ज़फर के पिता अक़बर शाह सानी से है। इनसे यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस सत्ता-हीन अवस्था में भी उन्हें—अर्थात् मुग़ल बादशाहों को--पुरानी ठाट-बाट, रस्मो-रिवाज, शिष्टाचार का प्राचीन-प्रणाली के अनुसार ही पालन करना पड़ रहा था तथा समाज अब भी उन्हें सम्राट् की दृष्टि से देखता और सम्मान प्रदान करता था। जुलूस वाले चित्र में, जोकि उन्हीं दिनों अंकित हुआ था तथा एक सच्चे जुलूस को दर्शित करता है, यह एक मार्क़े की बात है कि अंग्रेज रेज़िडेन्ट का स्थान, जुलूस में, औरों से बहुत पीछे है। यह इस बात का प्रमाण है कि ताक़त हासिल करके भी अंग्रेज़ तब तक महज़ एक व्यवस्थापक की ही स्थिति को प्राप्त थे। समाज में राज-पद को अभी वह हासिल न कर पाये थे।

पर इस सारी परिस्थिति का एक नतीजा यह था कि मुग़ल बादशाह शाही शानो-शौकत, ठाट-बाट की चक्की में बेतरह पिसने लगे थे, आय कम, व्यय अधिक--यही उनकी अवस्था थी, अर्थसंकट के वे शिकार थे। बहादुर शाह ज़फ़र के समय तक यह परिस्थिति और भी विषम हो चुकी थी। अंग्रेजों के द्वारा उन्हें जो माहवारी वृत्ति मिलती, वह काफी न थी और वह बड़ी दिक्कतों से शाही परिवार, शाही दरबार एवं क़िले के भीतर रहने वाले राजवंशीय एलातीनों का व्यय वहन करते थे। यही कारण है कि ज़ौक़ तथा ग़ालिब जैसे महान् कलाकार--शायर--शाही दरबार के जा-ज्वल्यमान नक्षत्र होकर भी आर्थिक कठिनाइयों में अपने दिन बिताते रहे, इच्छा होने पर भी ज़फ़र उन्हें बादशाह अक़बर की भांति धन-सम्पन्न न

कर पाये। उस्तादे शाह होकर भी ज़ौक़ की क्या स्थिति थी—किस गरीबी में दिन बिताये—यह "आबेहयात" में पढ़िये--

"एक तंगो-तारीक मकान था, जिसकी अंगनाई इस क़दर थी कि एक छोटी-सी चारपायी एक तरफ बिछती थी, दो तरफ़ इतना रास्ता रहता था कि एक आदमी चल सके। ज़ौक़ खरेरी चारपाई पर बैठे रहते थे। लिखे जाते थे, या किताब देखे जाते थे। गर्मी, जाड़ा, बरसात तीनों मौसिमों की बहारें वहीं बैठे गुज़र जाती थीं। कोई मेला, कोई ईद और कोई मौसम बल्कि दुनिया के शादी-ओ-ग़म से उन्हें कोई सरोकार न था। जहाँ अव्वल रोज़ बैठे, वहीं बैठते और जमो उठे कि दुनिया से उठे।"

फिर आये ग़दर के दिन और उसकी असफलता के बाद उनके रंगून-स्थित बन्दी-जीवन के जबकि उन्हें (यानी ज़फ़र को) जीवन-निर्वाह के लिए, अंग्रेज़ों के द्वारा, केवल तीस रुपये माहवार मिलते थे।

स्वाभाविक है कि ऐसी परिस्थितियों में निकले हुए उनके हृदयोद्‌गार विषाद-पूर्ण हों। उनके अशारों की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि इसकी एक-एक पंक्ति उनकी आत्मकथा है, उनके जीवन की दर्द-भरी कहानी का इज़हार करती है। यह न तो ज़ौक़ में है, न ग़ालिब में, और न इस क़दर उर्दू के किसी और ही शायर में।

ज़फ़र के ज़माने में दिल्ली का साहित्याकाश उर्दू कवियों से एक बार पुनः जगमगा उठा। ज़ौक़ और ग़ालिब उसके दो चमकते हुए, प्रतिभावान, सितारे थे। दिन-रात क़िले में शेरोसुख़न की हवा बहती रहती। पर '५७ के ग़दर के बाद वह वीरान हो गया। ज़ौक़ मर चुके थे, ग़ालिब किसी तरह अपने जीवन की घड़ियाँ गिनते रहते। ज़फ़र अंग्रेज़ों के द्वारा गिरफ़्तार होकर वतन से हज़ारों मील दूर रंगून में बन्दी-अवस्था को प्राप्त थे। नैराश्य एव शोक-सन्तपन हृदय से दाग़ ने कहा, और इन दो पंक्तियों में ही तत्कालीन अवस्था का सारा खाका खींच डाला था—

दाग़े फ़िराक़ सोहबते शब की जली हुई,
एक शमा रह गयी है सो वह भी खामोश है।

ज़फ़र ने अपने जीवन-काल में चार दीवान शाया किये पर इनमें उनके सारे क़लाम न आ सके। सैंकड़ों, हज़ारों, उनके अशआर असंकलित ही रहे, रंगून के और दिल्ली के भी। उनके अशआर के कुछ नमूने पीछे

दिये जा चुके हैं, कुछ और दिये जाते हैं इन थोड़े से अशआर से ही पाठक 'ज़फ़र' की काव्य-प्रतिभा का अंदाज़ लगा सकते हैं, पर उन्हें भी कई और शायरों की तरह ही उस रिवाज का शिकार बनना पड़ा, जिसके अनुसार छोटे-मोटे कवि अपनी तुकबन्दियों में किसी मशहूर शायर—ख्यातिप्राप्त कवि का नाम जोड़कर उसे प्रचारित करते हैं। तुलसीदास, सूरदास एवं मीरा के साथ तो ऐसा खूब हो हुआ, उनसे नीची कोटि के कवियों के साथ भी ऐसा हुआ।

'ज़फ़र' के ज़माने में, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, क़िले में शेरोसुख़न का बाज़ार गर्म रहा करता था, मोशायरे होते थे जिनमें ज़ौक़, ग़ालिब आदि तो अपनी रचनाएँ सुनाते थे ही, स्वयं बादशाह भी अपने क़लाम सुनाते और इस तरह की बादशाह की लिखी हुई नज़्में, ग़ज़लें, शेर वग़ैरह दूसरे दिन से ही शहर में फैल जाते थे, लोग इन्हें दिल्ली की सड़कों तक पर गाते फिरते थे। ग़रज़ यह कि 'ज़फ़र' के क़लाम अत्यन्त लोकप्रिय थे, इसलिए कि ये खुद बादशाह के लिखे होते थे और भाषा में सादगी थी जो सर्वसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करती थी। पर इस लोकप्रियता का एक बुरा परिणाम यह हुआ कि बहुतेरे तुक्कड़ अपनी तुकबन्दियों में ज़फ़र के नाम का व्यवहार करने लगे, 'ज़फ़र' के नाम से ये प्रसारित हो उठे। नतीजा यह था कि जहाँ ज़फ़र के उन दिवानों में जो उनके मृत्यु के बाद संकलित हुए, एक-से-एक सुन्दर रचनाएँ हैं, गंभीर भावों से भरे, वहाँ कुछ ऐसे क़लाम मौजूद हैं जो अत्यन्त निम्न श्रेणी के हैं और साहित्य में स्थान पाने के अयोग्य हैं।

ज़फ़र को काव्य से छोटी उमर से ही प्रेम था। नौजवानी में शाह नसीर से, जो कि उर्दू के एक प्रसिद्ध शायर थे तथा पिंगल-शास्त्र के पंडित भी, शिक्षा पायी, उनसे अपनी रचनाएँ दुरुस्त कराते रहे। अपने पिता अकबर शाह के राजत्व काल में और खुद तख्तनशीन होकर भी काफी लिखा और खूब लिखा, ऐसी चीज़ें लिखीं जो साहित्य में विशिष्ट स्थान पाने के योग्य हैं पर इसमें सन्देह नहीं कि उनकी वास्तविक काव्य-प्रतिभा रंगून के जेल में फूटी जबकि उन्होंने अपने दर्दो-ग़म का इज़हार पद्य-बद्ध रचनाओं में किया। उनके ये क़लाम केवल काव्य-कानन के प्रसून ही नहीं, हृदय के आन्तरिक उद्गार हैं—दिल की आहें हैं, और इसीलिए सुननेवालों

के दिल पर ज़्यादा असर डालते हैं। इसमें शक नहीं कि उनके रंगून के सारे अशआर ऐसे ही हैं।

'ज़फ़र' की शायरी से यह साफ़ ज़ाहिर है कि वह एक सिद्धहस्त कवि थे, वाणी के वर-प्राप्त पुत्र थे, पर यह भी सही है कि उनका व्यक्तित्व उनके कवित्व से कहीं ऊँचा था। एक अंग्रेज़ ने तत्कालीन दिल्ली-दरबार की उपमा वाइमर* से दी है तथा ज़ौक़ को इसका गेटे बताया। निस्सन्देह इसका सम्पूर्ण श्रेय ज़फ़र को है जिन्होंने उस गिरती दशा में भी दिल्ली में एक उच्च साहित्यिक वातावरण बना रक्खा था। यही नहीं, धार्मिक उदारता का जो परिचय उन्होंने दिया वह स्तुत्य है। उनकी रचनाएँ इसकी साक्षिणी हैं। वह ऐसे लोगों में थे जिनके मरते समय शेक्सपियर (Shakespeare) के सुन्दर शब्दों में यह कहा जा सकता था कि—

Now cracks a noble heart. Good night, Sweet Prince,
And flights of angels sing thee to thy rest!

—आह! फूट रहा हृदय एक अब,
सुन्दर, पावन,
विदा! विदा! हे श्रेष्ट, मृदुल, अति,
राजवंश-धन!
स्वर्ग-दूत आयें अब उड़ कर,
आयें—गायें,
और तुझे वे मरण-नींद में,
सुखद सुलायें।

ज़फ़र के अब इन चन्द कलामों पर ग़ौर फर्माएँ—

* वाइमर—जर्मनी का एक प्राचीन नगर, बर्लिन से १४० मील दूर। इल्म नदी के बायें तट पर स्थित, इस शहर की ख्याति इसलिए है कि १८वीं सदी के अंत एवं १६ के आरम्भिक वर्षों में यह बादशाह कार्ल-आगस्ट की (१७५७-१८२८) राजधानी थी जिसके दरबार में गेटे, शिलर, हर्डर तथा तथा वाइलैण्ड जैसे साहित्य-गगन के नक्षत्र जाज्वल्यमान थे। इनकी मृत्यु के बाद यह शहर वीरान हो गया और यहाँ केवल ऐतिहासिक राजप्रासादों, अन्यान्य मकानों एवं हर्डर आदि की कब्रों के अवशेष ही दृष्टव्य हैं। प्राचीन ड्यूकों का राजप्रसाद भी एक दर्शनीय इमारत है जिसकी दीवारों पर गेटे, शिलर, हर्डर तथा वाइलैण्ड की कृतियाँ अंकित हैं। राजमहल के बाग़ जिनके भीतर गेटे का ग्रीष्मकालीन निवास-स्थल विद्यमान है, आज भी अत्यन्त लोकप्रिय है, दर्शनीय है।

न दरवेशों का[1] चाहिए, न ताज शाहाना,
मुझे तो होश है इतना कि हूं मैं तुझ पै दीवाना,
न देखा वह कहीं जलवा जो देखा खान-ए-दिल में,
बहुत मस्जिद में सर मारा, बहुत सा ढूंढा बुतखाना।
कुछ ऐसा हो कि जिससे मंज़िले-मकसूद पर पहुंचू,
तरीके-पारसाई[2] हो कि होवे राहे-रिनदाना[3],
'ज़फ़र' वह ज़ाहिदे-बेदर्द[4] की हू, हक से बेहतर है,
करे जो रिन्द दर्दे-दिल से हा-ओ-हूए[5] रिनदाना।

या मुझे अफसर शाहाना बनाया होता,
या मेरा ताज गदायाना[6] बनाया होता,
अपना दीवाना बनाया मुझे होता तूने,
क्यों खिरदमन्द[7] बनाया न बनाया होता!
खाकसारी के लिए गर्चे बनाया था मुझे,
काश! संगे-दरेजाना[8] न बनाया होता,
नशा-ए-इश्क का गर जर्फ़[9] दिया था मुझको,
उम्र का तंग न पैमाना बनाया होता!

शोल-ए-हुस्न ता औरों का दिखा के मारा,
तूने ज़ालिम हमें बेआग जला के मारा,
सोते थे चैन से हम खाबे-अदम[10] में लेकिन,
शोरे-हस्ती[11] ने हमें आह जगा के मारा।
चैन से घर में पड़े करते थे बातें दिल से,
वहशते-इश्क[12] ने दे हमको उठा के मारा,
नाला भी करने न पाए कि निकलती हसरत,
हम को ऐ इश्क, गला तू ने दबा के मारा!

---

१. फ़कीरों का कपड़ा। २. नेकी, पवित्रता। ३. पापियों का-सा। ४. लापरवाह साधु। ५. चिल्लाने वाले फ़कीर की आवाज़। ६. मांगनेवाले का। ७. बुद्धिमान। ८. प्रेमिका के दरवाज़े का पत्थर। ९. बर्तन। १०. उस संसार का स्वप्न जिसका अस्तित्व नहीं है। ११. अस्तित्व का शोरगुल। १२. प्रेमी की भयानकता।

जब खिलखिला के साकी-ए-गुलफ़ाम हंस पड़ा,
शीशे ने कहकहे लिए और जाम हंस पड़ा।
सैराब[1] आबे-तेग़[2] से होकर बरंगे-गुल[3],
हर एक ज़ख्मे-आशिके नाकाम हंस पड़ा।
क्या बात याद आ गई उसको ऐ 'ज़फ़र',
वह यक-बयक जो सुन के मेरा नाम हंस पड़ा।

करते थे एखलाक़[4] दिल लेने को वह दिल ले चुके,
क्या बताऊँ मैं कि उनका प्यार[5] क्या था, क्या हुआ;
हो गया जो कुछ कि होना था मेरी तकदीर में,
क्या बताऊँ मैं कि ऐ ग़मख्वार, क्या था, क्या हुआ।
सरकशी[6] करता है क्या-क्या अपनी हस्ती पर होबाब[7],
देखना एकदम में यह पिनदार[8] क्या था, क्या हुआ;
ले गया वह नीम-गमज़े[9] में जो दिल को ऐ 'ज़फ़र',
हो गया मैं हैराँ एकबार क्या था, क्या हुआ।

जो अर्श से है फर्श तलक, आदमी में है,
देख आँख खोल कर,
क्या-क्या नहीं है उसमें, कि सब कुछ इसी में है,
पर चाहिए नज़र!
दिल अपना पहले ज़ंगे-कदूरत[10] से साफ कर,
मानिन्द आईना,
फिर तो बग़ौर देख कि इस आरसी में है,
क्या हुस्न जलवागर!
पैदा निगाह कर कि तजल्लीए-हुस्ने-यार[11],
हरजा[12] है आशकार[13],
शोले से तूरके[14] नहीं कम रोशना में हूँ,
हर संग का शरर[15]!

१. जी भर। २. तलवार की चमक। ३. फूल के रंग में। ४. प्रेम पूर्ण व्यवहार। ५ प्रेम। ६. बग़ावत। ७. बुलबुला। ८. घमंडयुक्त। ९. तिरछी नज़र के इशारे से। १०. घृणा। ११. यार के हुस्न का जलवा देखने वाला। १२. हर जगह। १३. खुला हुआ। १४. वह पहाड़ जहाँ मूसा को परमात्म-ज्ञान हुआ था और जहाँ रोशनी : शोला : नज़र आयी थी। १५. चिनगारी।

क्यों काबा व कुनिश्त[1] में सर मारता है तू,
सरगरम जुस्तजू[2],
तू ढूंढ़ता है जिसको छिपा वह तुझी में है,
पर तू है बेख़बर !
है दौर-जामो[3] सोहबत यारान ज़िन्दादिल,
कैफ़ियते[4] हयात,
कुछ है अगर मज़ा तो यही ज़िन्दगी में है,
बाक़ी है दर्दे-सर !
अफशाए-राज़[5] इश्क न कर, कह के जी की बात,
परदा ही ख़ूब है,
जी ही में अपने रहने दे जो कुछ कि जी में है,
ख़ामोश ऐ 'ज़फ़र' !

ज्यों गुलो बलबुल चमन में सब हैं हँसते बोलते,
की है एक गुन्चे[6] ने ख़ामोशी हमीं से इस क़दर !

क्या रंग दिखाती है यह चश्मे-तर[7] ओ हो हो,
ख़ूने जिगर आ हा हा ! लख़ते[8] जिगर ओ हो हो !
क्या शोर शराबा है मयख़ान-ए-आलम में,
हर दम इधर आ हा हा ! हर दम उधर ओ हो हो !
हसती[9] से अदम[10] तक हम मर-मर के पहुँचते हैं,
एकदम की मोसाफत पर इतना सफ़र ओ हो हो !
गफ़लत का 'ज़फ़र' परदा उठ जाय तो आँखों से,
आ जाय तमाशा फिर क्या-क्या नज़र ओ हो हो !

बहार आयी असीराने-क़फ़स[11] आपस में कहते हैं,
फड़क कर तोड़ना है गर क़फ़स तैयार हो जाओ।

मंज़िले-इश्क बहुत दूर है अल्ला ! अल्ला !
एक ही गाम[12] में तुम थक के 'ज़फ़र' बैठ गए !

---

१. यहूदियों का मन्दिर । २. अन्वेषण, तलाश । ३. मित्रों के सत्संग का प्याला । ४. ज़िन्दगी की हालत । ५. अपने प्रेम के भेद को खोलना । ६. कली । ७. भीगी हुई आँख । ८. टुकड़ा । ९. जीवन । १०. परलोक । ११. जेल : पिन्जड़े के क़ैदी । १२. कदम ।

है यह डर दिल को न चश्मे मस्त महवश[1] खींच ले,
अपने मशरब[2] में न इस सूफी को मयकश[3] खींच ले।

यां आए कहां से हैं कहां जायेंगे यां से,
हैरां है 'जफ़र' हम पै मोअम्मा[4] नहीं खुलता।

दुनिया में बला से अगर आराम न पाया,
हमने यही पाया कि बरा नाम न पाया।

बरसा हज़ार बार यहां अब्रे-नौबहार[5],
नख्ले मुराद[6] पर न हुआ अपना आह सब्ज़।

कब रहती है दुनिया में बहारे गुलो गुलशन,
दो दिन में उड़ादे है 'जफ़र' बादे-खिजां[7] खाक।

जुल्म सहते हैं बजुज़ शुक्र नहीं कुछ कहते,
हम जफाओं को तेरी मेहरो-वफ़ा[8] गिनते हैं।

बजुज़[9] खूने दिले महजूं[10] बजुज़ चश्मो दिले पुरखूं[11],
न पास अपने मय गुलगूं[12] न सागर[13] है, न सबहा है;
'जफ़र' मयखान-ए-आलम में हमको एक मुद्दत से,
न मसती की हवस न मय-परस्ती[14] की तमना है।

हम हुए पीर[15] ऐ 'जफ़र' लेकिन,
दिल है अब तक वही जवां अपना।

'जफ़र' की सैर इस गुलशन की हमने पर किसी गुल में,
न कुछ उलफ़त की बू पायी, न कुछ रंगे वफ़ा देखा।

कीमियां[16] तक़दीर ही को अपनी समझो ऐ 'जफ़र',
करते हो क्यों जुस्तजू[17] अकसीर की तौबा करो।

बोल उठा तेरे आगे जो गुनचा पटाक से,
मारा सबा ने मुंह पर तमाचा तड़ाक से।

---

१. चांद के समान। २. तरीका, ढंग, धर्म। ३. शराबी। ४. रहस्य, भेद। ५. नव-वसन्त की वर्षा। ६. आकांक्षा का वृक्ष। ७. पतझड़ का वायु। ८. प्रेम और वफ़ादरी। ९. बगैर। १०. शोकपूर्ण। ११. रक्त से भरा हुआ। १२. फूल जैसी सुर्ख रंग की शराब। १३. प्याला। १४. शराब। १५. वृद्ध। १६. वह जो लोहे का सोना बनाती है। १७. तलाश।

सोहबत मोनाफ़काना[1] हरजा नेफ़ाक[2] से,
कुछ इत्तफ़ाक़[3] है तो कहीं इत्तफ़ाक से

देखा न तुझ का हमने यों महरूम[4] ही चले,
आये थे तेरी दीद[5] को किस इश्तेयाक[6] से।

मेरी नज़दीक 'जफ़र' बादापरस्ती[7] अच्छी,
पर नहीं है मये-पिन्दार[8] की मस्ती अच्छी।
है जिन्हें होश 'जफ़र' रहते हैं दुनिया से अलग,
कि नहीं उलफ़ते-मयखाना-ए-हस्ती[9] अच्छी।

एतबार सब्रो-ताक़त ख़ाक में रक्खूँ 'जफ़र',
फ़ौज हिन्दुस्तान ने कब साथ टीपू का दिया?

रहे जो इश्क में लबे खुश्क चश्मे तर मेरी,
खुदा ने मुझको शहे-बहरोबर बनाया था।
कहे थी शब तहे-गुलगीर[10] शमा रो-रो कर,
बबाल सर प मेरे ताजेज़र बनाया था।

रूप प बाला कान के बाले में हैं गौहर कई,
चाँद पर हाला[11] है और बाले में है अख्तर[12] कई।

नाखून प रफता-रफता रही सूख़ी य हेना,
तसवीरे माहे नौ[13] महे कामिल पर बन गई।

दिल हाथ में उसका किया पर है 'जफ़र' यह हाल,
जुम्बिश[14] में रहे से कि सागर[15] के तले हाथ।

रहता जुबान पर आठ पहर किसका नाम है,
करता है जो यह दिल में असर किसका नाम है?
बदनाम है जहाँ में 'जफ़र' जिसके वास्ते,
वह जानते नहीं कि जफ़र किसका नाम है।

---

१. धूर्तता : दिल में कुछ, बाहर कुछ। २. मतभेद। ३. मेलजोल। ४. चीज़ का न पाना। ५. दर्शन। ६. शौक। ७. शराब की पूजा। ८. अहंकार की मदिरा। ९. जीवन के मदिरालय का प्रेम। १०. गले के साथ मिली हुई। ११. घेरा। १२. तारा। १३. नवीन (छोटा) चाँद। १४. हिलते हुए में। १५. शराब का गिलास-बर्तन।

बुरा वह है हक़ीक़त में जो समझे आपको अच्छा,
बुरा सबसे 'ज़फ़र' हम हैं, बुरा हम किसको कह बैठे ?

कहाँ ऐश मुझको न ऐयाश समझो,
तुम इस गमज़दा[१] को न बश्शाश[२] समझो।

जो इस ऐनक में सूझे है वह पूछो मय-परसतों से,
कि जब तुमने चढ़ाये भर के पैमाने तो क्या सूझा।
जा बैठा अबस[3] शहर से वीराने में ज़ाहिद,
क्या सूझेगा जंगल में जो बसती में न सूझा।

भड़की है बेतरह यह 'ज़फ़र' आज दिल की आग,
आगे तो शोला-सा कई बार उठ कर रह गया।

देखूँ जो मोरक्के[४] को तो जो क्योंकर न तड़पे,
सूरत कोई मिल जाय है सूरत में किसी की।

नामवर[५] से पहले मेरा नाम सुन कर हँस पड़े,
फिर सुना पैग़ाम तो पैग़ाम सुन कर हँस पड़े।
बज़्म में बहकी जवां साक़ी की कुछ इस लुत्फ़ से,
जामो मीनाए मये[६] गुलफ़ाम सुन कर हँस पड़े।
यह ग़रूरजाह[७] गाफ़िल वह हँसी की बात है,
ख़ाक में जब वह गिरे बहराम सुन कर हँस पड़े।

बहर्गिज दर्द-दिल से मैं कराहा,
गर्ज़ पोशीदा उल्फ़त को निबाहा।
मोहब्बत के यह माने है कि हमने,
वह चाहा कि जो कुछ तूने चाहा।
फ़क़ीरों से तो पूछो लज्ज़ते इश्क,
हा हा हा ! हा हा हा ! हा हा हा !
'ज़फ़र' को बाज़ रख आमाले बद[८] से,
खता बख़शा[९], करमगाहा, एलाहा।

भूला न तुझे यह कभी इस याद को शाबाश,
शाबाश ! हमारे दिले नाशाद को शाबाश !

---

१. ग़म वाला। २. ख़ुश। ३. व्यर्थ। ४. शीशा। ५. पत्र-वाहक। ६ शराब। ७. घमंड से भरा हुआ। ८. बुरे काम। ९. गलती को माफ़ करना।

हर रोज़ सितम ताज़ा है हर रोज़ नया ज़ुल्म,
ऐ शोख़ सितमगार, तेरी ईजाद को शाबाश !
आमनतोबिल्लाह[१] की हुई इतनी तो तासीर,
कहते हैं वह सुन कर मेरी फरियाद को शाबाश !
मुर्गे चमन कुदुस[२] को इसदाम[३] से क्या काम,
पर खेंच ही लाया मुझे सैयाद को शाबाश !
है लाख ख़यालात में फ़िक्रे-सुख़न ऐसा,
तेरी 'ज़फ़र' इस तबाये[४] ख़ोदादाद को शाबाश !

तदबीर[५] को सौ तरह की तदबीर से बदलूं,
तकदीर को किस तरह से तकदीर से बदलूं।
वाशुद[६] ही नहीं दिल को 'ज़फ़र' आह जो बस हो,
इस गुनचे को मैं गुनच-ए-तसवीर से बदलूं।

क्या पूछते हो क्यों कि मिली दिल से चश्मे यार,
बीमार जिस तरह कोई बीमार से मिले।

बोले कि कहीं, गुम न करें राह मुसाफ़िर,
एक शख़्स ने कल मेरी कहानी जो बयां की।
सच है कि वही जाने है जिस शख़्स प गुज़रे,
उस बुत को ख़बर क्या है मेरे दर्द-नेहां[७] की।
पायी न किसी गुल में 'ज़फ़र' बू-ए-मोहब्बत,
ज्यों बादे सबा, गर्चे बहुत सैरे जहां की।

जब कोई कहता है हस्ती को कि हस्ती ख़ूब है,
उसकी गफ़लत पर फ़ेना[८] उस वक्त हसती ख़ूब है।
तौबा ऐ साक़ी, नहीं पीने का मैं जामे शराब,
मुझको अपनी बादए[९] वहदत[१०] की मसती ख़ूब है।
मुलके दुनिया की तो आबादी है वीराना तमाम,
और बसती है जहां एक खलके-बसती[११] ख़ूब है।
'ज़फ़र' को मंज़िले-मकसूद पर तकदीर ले पहुंची,
किधर भटकी हुई सी अक्ल बेतदबीर फिरती है।

---

१. ईश्वर को मानने पर। २. पवित्र। ३. धोखेबाज़ी। ४. ख़ुदा की दी हुई तबीयत। ५. उपाय। ६. है। ७. छिपा हुआ। ८ मृत्यु। ९. प्याला। १०. अद्वैत भाव। ११. संसा

न हो सकते बयाँ जुल्मोसितम बिसमिल[1] से क़ातिल के,
खुले जो हर जबाने खनजरे कातिल से कातिल के।
कोई है छूटना आसाँ क़यामत तक न छूटेगा,
कि पहुँचा ख़ूं मेरा दामन तलक मुश्किल से कातिल के।

'ज़फ़र' हज़ार मय व मयकदा से बेहतर है,
अगर नसीब हो कुंजे[2] फराग में पानी।

खुले हज़ार दर बाग़े दिलकुशा[3] लेकिन,
दिल गिरफ्ताँ मेरा बन्दी ही रहा, न खुला।
नशे ने बज़्मे साकी में जो मस्तों को उड़ा मारा,
लबे सागर प मुंह शीशे ने धर कर क़हक़हा मारा।
न था दूर तो रस्ता बहुत इस यार के घर का,
मगर हमको हमारी नातवानी[4] ने थका मारा।

क्या कहूँ है क्या बुतों की आशनाई में मज़ा,
वह मज़ा सब इसमें है जो है ख़ोदाई में मज़ा।
मसजिदों बुतखानों में टकराया सर को बेमज़ा,
तेरे संगे दर प आया जग हसाई में मज़ा।
आ सके गुलशन तलक उड़कर न हम बेबालो[5] पर,
हम ने ऐ सैय्यद, क्या पाया रेहाई में मज़ा?

शाखेगुल जैसे हवा से झूमती है बाग़ में,
है 'ज़फ़र' यों चाल में उस तेरे मतवाले की झोंक।

जो होते हम न जहाने खराबे में दाखिल,
तो होते काहे को रंजो अज़ाब[6] में दाखिल।
जो तेरी चश्म हो बेदार तो दिल भी बेदार[7],
नहीं तो जागना तेरा है ख्वाब में दाखिल।
बचा था कुछ तेरे रूखसार से अज़ल[8] में नूर,
हुआ वह चश्म महो आफ़ताब में दाखिल।

---

१. ज़ख्मी। २. एकान्त फुर्सत का कोना। ३. खुला दिल वाले, सुन्दर। ४. दुर्बलता। ५. पंखविहीन। ६. दुःख, कठिनाई। ७. जागना। ८. जब संसार की सृष्टि हुई।

अगर जवाँ हो दिले पीरे इश्क की दौलत,
तो ऐ 'ज़फ़र' है वह तेरे शबाब[1] में दाखिल।

आलमे सूरत में तू मैं सूरते आदम में हूँ,
आलमेमानी में लेकिन और ही आलम में हूँ।
बढ़ते-बढ़ते दिल तलक पहुँचा 'ज़फ़र' ज़ख्मे-दिल,
और मैं अब-तक तलाशे बुसख - ए - मरहम में हूँ।

बुरे हैं या भले हैं 'ज़फ़र' लेकिन ग़नीमत है,
कि याँ आएँगे फिर-फिर कर न हम जैसे न तुम जैसे।

आ गया ज़बाँ पर जब नाम तेरा,
फिर ज़बाँ से मज़ा नहीं जाता।
महवे हैरत हूँ सूरते तसवीर,
क्या कहूँ कुछ कहा नहीं जाता।

बला से गर न हुआ दिल का दाग़ गुल न हुआ,
पर अपने घर का यह रोशन-चराग़ गुल न हुआ।
किया हज़ार शगुफता[2] बहार ने लेकिन,
खिज़ाँ के डर से कभी बाफ़राग़[3] गुल न हुआ।

जहाँ में और तो डरते हैं ग़ैर से लेकिन,
'ज़फ़र' रहे है मुझे अपने आशना का खौफ़।
हुई गैरों को खता की जो है ताज़ीर[4] माफ़,
उसका बायस[5] भी बता दूं जो हो तकसीर[6] माफ़।
मुद्दतो तूने दिये हमको जहाँ में चक्कर,
अब तो रख कोई दिन ऐ गरदिशे तकदीर माफ़

भर दे अंगारों से दम में लाल-ओ-गुल के चमन,
ऐ 'ज़फ़र' इतनी कहाँ है बुलबुले शैदा में आग।

ग़मो अलम से नजात पाऊँ कि मैं नेहायत अज़ाब[7] में हूँ,
बड़ा ही एहसाँ करे अगर तू अरे न अब ऐ कज़ा त-अम्मुल[8]।

नै खिरद[9], नै होश, नै तदबीर पर शाकिर[10] हैं हम,
दोस्तो, अपनी फ़क़त तक़दीर पर शाक़िर हैं हम।

---

१. जवानी। २. फूल का खिलना। ३. आराम के साथ। ४. जुर्माना; सजा। ५. कारण, ६. गलती। ७. दुःख। ८. रुके। ९. बुद्धि। १०. सब्र करने वाला।

करते क्या-क्या शुक्र कुछ होता जो नालों[1] में असर,
जबकि अपनी आह बेतासीर पर शाकिर हैं हम।
हाथ से क़ातिल के कुछ शिकवा नहीं करते कभी,
रखके आप अपना गला शमशीर पर शाकिर हैं हम।
है 'ज़फ़र' हम सा जफ़ाकश[2] कौन ज़ेरे-आसमाँ[3],
हर जफ़ा-ए-आसमाने पीर कर शाकिर हैं हम।

कहूँ किससे बेमेहरियाँ[4] इस फ़लक[5] की,
कि सब उठ गए मेहरबाँ अच्छे-अच्छे।
लड़े क्या ज़माने से कुश्ती के इसने,
पछाड़े बहुत पहलवाँ अच्छे-अच्छे।
'ज़फ़र' है वह गरमी तुम्हारे सुख़न में,
कि जलते हैं आतिश-जवाँ अच्छे-अच्छे।

'ज़फ़र' दोस्तदार[6] अब जहाँ में कहाँ हैं,
ग़नीमत समझ हैं अगर बाजे बाजे।

नहीं मालूम दिल का बायसे रंजो कलक क्या है,
और उस रंजो कलक से देखिए मंज़ूरे हक़[7] क्या है।
दिया पैग़ाम जो कासिद ने तुमको हम से तो कह दे,
'ज़फ़र' क्यों हो गया सुनते ही तेरा रंग फ़क़[8] क्या है।

'ज़फ़र' है ख़ाक का पुतला यह इन्साँ,
पर इसमें बोलता क्या जाने क्या है।

यार है मेरे दिल में और काबे में बुतख़ाने में,
घर में वह मौजूद है और मैं घर ढूंढता फिरता हूँ।

ज़ाहिद न बादहनोश[9] हूँ न मै-परस्त हूँ,
रहता शराबे इश्क से ही ख़ूब मस्त हूँ।

क्या हमें इशमतेशाही[10] से मोहब्बत होवे,
ऐ 'ज़फ़र' हम तो फ़क़ीरों से हैं उल्फ़त रखते।

---

१. रोना। २. ज़ुल्म सहने वाला। ३. आकाश के नीचे। ४. ज़ुल्म। ५. आसमान। ६. वफ़ादार साथी। ७. ख़ुदा। ८. उड़ जाना। ९. शराबी। १०. हकूमत की दौलतमन्दी।

वस्लजाना[1] में जो थे इशरत[2] के वह दिन टल गए,
आ गए दिन रंज के राहत[3] के वह दिन टल गए।
ज़ोफ़[4] पीरी का बुरा हो खो दिया सब कार से,
अब रही ताक़त कहाँ ताक़त के वह दिन टल गए।
अब तो खूने दिल ही हम पीते हैं हसरत[5] में मोदाम[6],
बाद-ए-ऐशो मये-इशरत के वह दिन टल गए।
अब तो बेज़ारी[7] है साक़ी, दुख्तरे-रंज[8] से हमें,
इससे रगवत[9] क्या करें, रगवत के वह दिन टल गए।
अहदे पीरी[10] में कहाँ जोशे-जवानी की उमंग,
ऐ 'ज़फ़र' अफ़सोस कैफियत के वह दिन टल गए।

खुश रहते मशगूल जो हैं हिर्स-बहवा में,
अपने तो हवास उड़ते हैं दुनियाँ की हवा से।

जो दिल गिरफता गुनच-ए-तसवीर हो मियाँ,
फिर उसको क्या हँसाए कोई और वह क्या हँसे।

मोहर-ए-शतरंज-सा अपनी 'ज़फ़र' है क्या बिसात,
करता है वह आप बुरदद मात अपने हाथ से।

यह सितारे की गर्दिश है, ऐ 'ज़फ़र' घबड़ा नहीं,
देखना तेरे बनाता काम है अल्लाह क्या।

जाओ उस बिन अगर आराम नहीं तुम जानो,
हज़रते दिल हमें कुछ काम नहीं तुम जानो।
तुम मुसलमाँ हो 'ज़फ़र' खूब नहीं इश्के-बुताँ,
और अगर यह है तो इस्लाम नहीं तुम जानो।

मोहब्बत में गो लाख सदमे हों दिल पर,
'ज़फ़र' कुछ न निकले खबरदार मुंह से।
जल जाए तपे ग़म से 'ज़फ़र' जान बला से,
पर उफ़ न करें सोखता जानी की कसम है।

---

१. प्रेमियों का मिलन। २. ऐशो आराम के दिन। ३. खुशी। ४. दुर्बलता। ५. अफसोस। ६. हमेशा। ७. घृणा। ८. अंगूर की बेटी। ९. इच्छा। १०. बुढ़ापे का ज़माना।

न कहूँगा, न कहूँगा कभी कैफ़ियते दिल,
मलेकुल-मौत[1] को पहलू में बैठा लूं तो कहूं,

हम यह तो नहीं कहते कि ग़म कह नहीं सकते,
पर जो सबबे ग़म है वह हम कह नहीं सकते।

ग़लत है जो यह कहते चुपके रहना कुछ नहीं अच्छा,
न कहने में मज़ा है मुंह से रहना कुछ नहीं अच्छा।

ग़मे पिनहाँ[2] को मेरे कान बशर जानता है,
मेरा दिल जानता है मेरा जिगर जानता है।

है गर्चे मिस्ले शमा सरापा[3] जबां तो क्या,
कह सकते पर जबां से नहीं एक सुखन हैं हम।

न कभी शाद शादी में न ग़मगीन ग़म में हूँ,
मेरा आलम और है मैं और ही आलम में हूँ।

जल-जल के खाक होंगे वह ऐ 'ज़फ़र' कहें सब,
हैं शौल-ए-शरारत जितने उठाने वाले।
बेसर थे जो वह हरदम ज़ेरे ज़मीं गए सब,
किस्मत के रह गए हैं कितने उठाने वाले।

अब कहाँ बन्दे के सच जो पूछे ऐ 'ज़फ़र',
अब तो बन्दे हैं फ़क़त दामो-दिरम[4] के रह गए।

बेराह जा तनहा जायें तो किधर जायें,
मालूम नहीं रस्ता, जायें तो किधर जायें ?
दुनिया की 'ज़फ़र' आ कर हम भूल-भुलइयों में,
हैं भूल गए रस्ता, जायें तो किधर जायें ?

मैं वह हूँ सोख्ता[5] जाँ उन बुते गुमराहों का,
जिसका पहुँचे है धुआँ अर्श तलक आहों का।

क्या कहूँ मैं किस नशे में रातदिन मख़मूर[6] हूँ,
ऐसी कैफ़ियत में हूँ अपनी खुदी से दूर हूँ।
खल्क[7] अपने मुंह से जो कुछ मुझ को कहती है, कहे,
बन्द-ए-ग़ोयूर[8] हूँ इस बात पर मग़रुर[9] हूँ।

---

१. यम-दूत। २. प्रक्षिप्त। ३. अपरिमित। ४. रुपए-पैसे। ५. जान जली हुई। ६. नशे से चूर। ७. जनता, लोग। ८. आत्मसम्मानी का ग़ुलाम। ९. घमण्डी।

जो धड़कता है निकल जाए न मुंह से हर्फ़-राज़[1],
यार सब हुशियार हैं और मैं नशे में चूर हूँ ।
जलवागर है शम-ए-हुस्ने यार, दिल में ऐ 'ज़फ़र',
सरते फानूस गोया नूर से मामूर[2] हूँ ।

अक्ल पर नाज़ है, क़ुदरत प नज़र किसको है,
सब को फिक्र आज की है, कल की ख़बर किसको है ?
देखता-ऐबो-हुनर और का है सब कोई,
अपना मालूम 'ज़फ़र' ऐबो-हुनर किसको है ?

रौनके गुलशन, बहारे गुल जो कम होती चली,
अश्क शबनम से नसीम सुबह दम होती चली ।
हो चुके दिन ज़ब्त गिरिया[3] के कि पी जाते थे अश्क,
अब तो चश्मतर 'ज़फ़र' कुछ आबरु खोती चली ।

ऐ 'ज़फ़र' क्या पूछता है राह मुझसे इसके मिलने की,
एरादा हो अगर तेरा तो हर जानिब से रस्ता है ।

महफिल से उठ कर जो हम सुबह दम चले,
मानिन्द शमा दाग़ बेदिल चश्म नम[4] चले ।
दीवाने तेरे क़ैद से हसती की छट कर,
क्या बफ़राग़ जानिब कूए-अदम[5] चले ।
क्या जाने राहे इश्क की तकलीफ़ बुलहवस[6],
मालूम हो जो साथ मेरे दो क़दम चले ।

न दाएम[7] ग़म है न इशरत कभी यों है कभी वों है,
तबद्दुल[8] याँ है हर सायत कभी यों है कभी वों है ।
गिरेबाँ चाक हूँ गाहे उड़ाता ख़ाक हूँ गाहे,

लिए फिरती मुझे वहशत[9] कभी यों है कभी वों है ।
'ज़फ़र' साए से भी गर्दिशज़दों के चाहिए बचना,
कि हम गर्दिश में आए जब से ज़ेरे आसमाँ आए ।

---

१. भेद की बात । २. भरा हुआ । ३. प्रक्षिप्त । ४. भीगी हुई आँख । ५. कूए तरफ । ६. लोभी । ७. कायम । ८. हेर-फेर । ९. पागलपन ।

जो काबे में है शेख वही बुतकदे में है,
नाहक का तेरे दिल में यह भटकाओ पड़ गया।
बाज़ी लगा दे इश्क की चौसर में शौक से,
पौ बारा है 'ज़फ़र' जो कोई दाओ पड़ गया।

कर न शिकवा कि मुझे यह न दिया, वह न दिया,
शुक्र कर तू कि दिया है तुझे इन्सां बना।

राज़े दिल जिससे कहा दोस्त समझ कर अपना,
ऐ 'ज़फ़र' हमने उसे जान का दुश्मन देखा।

न उसका भेद यारी से न ऐयारी से हाथ आया,
खोदा आगाह है दिल की खबरदारी से हाथ आया।
न हो जिनके ठेकाने होश वह मंजिल को क्या पहुँचे,
कि रस्ता हाथ आया जिसकी हुशियारी से हाथ आया।
हुआ हक़ में हमारे क्यों सितमगर आसमाँ इतना,
कोई पूछे कि ज़ालिम, क्या सितमगारी से हाथ आया।
अगर कुछ माले दुनिया हाथ भी आया हरीसों[1] के,
तो देखा हमने किस-किस ज़िल्लतोखारी से हाथ आया।

मैं हूँ आसी[2] कि पुर-खता[3] हूँ।
तेरा बन्दा हूँ ऐ खोदा, कुछ हूँ।
जुज-व-कुल[4] को नहीं समझता मैं,
दिल में थोड़ा सा जानता कुछ हूँ।
जब कि ना-आशना हूँ मैं सबसे,
तब कहीं इससे आशना कुछ हूँ।
ख्वाब मेरा है न बेदारी[5],
मैं तो इससे भी देखता कुछ हूँ।
तुम से उल्फ़त निबाहता हूँ मैं,
बावफ़ा हूँ कि बेवफ़ा कुछ हूँ।
गर्चे कुछ भी नहीं हूँ मैं लेकिन,
इस पै भी कुछ न पूछ क्या कुछ हूँ।

---

१. लालची। २. दोषी। ३. दोषों से भरा हुआ। ४. खुदा की बनायी हुई सारी चीज़ें। ५. जागना

जो दोस्त थे वह हैं दुश्मन, अजब तमाशा है,
हुआ है देखो ज़माने का हाल कैसा कुछ।

हमें क्या काम जो नाहक सहारा ग़ैर का ढूंढे,
सहारा यां खोदा ही का कुछ ऐसा है कि क्या कहिए।
बला से गर नहीं है साया-ए बाले हुमा[1] सर पर,
तेरी दीवार का साया कुछ ऐसा है कि क्या कहिए।
वह है पेशे नज़र और फिर नज़र आता नहीं हर्गिज़,
पड़ा गफलत का एक परदा कुछ ऐसा है कि क्या कहिए।
मज़ा जो कुछ कि इस दर्दे मोहब्बत में है बेदर्दी,
वह हम से पूछते हो क्या कुछ ऐसा है कि क्या कहिए।
'ज़फ़र' दुनिया-ए फानी ख्वाब का सा एक आलम है,
मगर इस ख्वाब में देखा कुछ ऐसा है कि क्या कहिए।

बहकाने वाले आपके सब यार बन गये,
समझाने वाले मुफ़्त ही गुनाहगार बन गये।
कैफियत अपनी चश्मे से यह मस्त[2] की न पूछो,
सूफी तमाम देख के मयख्वार बन गये।
कैसी बनेगी देखिए, क्योंकर छुपेगा राज़,
ग़म्माज़[3] मेरे दीद-ए-खूंबार[4] बन गये।
भेजा था अपनी तरफ से जिन्हें वहाँ,
जाते ही सब वहाँ इसके तरफदार बन गये।
हुशियार रहना चाहिए यारों से ऐ 'ज़फ़र',
हैं यार इस ज़माने के ऐय्यार बन गये।

हज़ारों इश्क में ऐ हज़रते दिल रंजो-ग़म पहुँचे,
पर अफ़सोस ! अपने मकसद को न तुम पहुँचे, न हम पहुँचे।
तमाशा और ही कुछ हमने देखा सागरे दिल में,
'ज़फ़र' क्या दखल कैफियत को इश्के जाम जम पहुँचे।

---

१. एक हड्डी खाने वाला पक्षी जिसकी परछाई पड़ने से आदमी फ़कीर होता है या बादशाह। २. नशे में मस्त। ३ आँख की भौं। ४. खून टपकानेवाली आँख।

डरता हूँ मौजे बहरे[1] मोहब्बत से ऐ 'ज़फ़र',
हाथ आते-आते दामन साहिल डुबो न दे।

न जाये सोज़े दिल गर जाँ जल जाये तो यह जाये,
न जाये दर्दे दिल गर दम निकल जाये तो यह जाये।
नहीं जाने की जीतेजी तू हसरत वस्ले-जानां की,
मगर हां बाद मुर्दन ऐ अजल[2] जाये तो यह जाये।
'ज़फ़र' क्या-क्या कहे हैं शेर इसमें वाह-वा तूने,
सुखन-फहमों की महफ़िल में ग़ज़ल जाये तो यह जाये।

तुम्हारी बेवफ़ाई का ता डर पहले से हमको है,
नहीं हम बेखबर इसकी खबर पहले से हमको है।
करेंगी एक दिन दिल से खलिश[3] उस शोख की मिजगां[4],
कि खटका हो गया यह ऐ 'ज़फ़र' पहले से हमको है।

उस निगाहे मस्तों की मस्ती और है,
और मद है और उनकी मय-परस्ती और है।
ऐ 'ज़फ़र' बसते हैं दिल में रंजो-ग़म दर्दो अलम,
अब तो कुछ इस खाना-ए-वीराँ में बसती और है।

मुझे जो यार मेरे आये हैं समझाने क्या सूझी,
जो मुझ को इश्क में सूझी कोई क्या जाने क्या सूझी।
वह उस दुनिया में है जितने मज़े हैं जिन्दगानी के,
खुदा जाने किया क्यों तर्क उसे नादाँने क्या सूझी।
लगे है जब किसी से लौ तो फिर ऐसी ही सूझे है,
न पूछो ढेर क्यों जल कर हुए परवाने क्या सूझी।
जो इस ऐनक में सूझे है वह पूछो मय-परस्ती से,
कि जब तुमने चढ़ाये भर के दो पैमाने क्या सूझी।

बजुज़[5] खूने दिले महज़ूँ[6] बजुज़ चश्मो दिले पुरखूँ[7],
न पास अपने मये गुलगूँ[8] न साग़र है, न सहबा[9] है।
'ज़फ़र' मयखान-ए-आलम में हमको एक मुद्दत से,
न मस्ती की हवस न मय-परस्ती की तमन्ना है।

---

१. दरिया। २. मृत्यु। ३ चिन्ह। ४. खोल देना। ५. सिवाय उसके। ६. परेशान। ७. खून से भरा। ८. फूल की मस्ती, उसके सौन्दर्य को देख कर जो मस्ती आये। ९. पिलाने वाला।

तमाम उम्र गुजारी हूँ अपनी गफ़लत में,
जहाँ की सैर 'ज़फ़र' हमने ख्वाब में की है।

आ गया जब ज़बां पर नाम तेरा,
फिर ज़बां से मजा नहीं जाता।
महवे हैरत[1] हूँ सूरते तस्वीर,
क्या कहूं, कुछ कहा नहीं जाता।

पस्ती में जो देखा वह बलन्दी में न देखा।
सूझा जो बलन्दी में वह पस्ती में न सूझा।
नरगिस की रविश आंख 'ज़फ़र' हमने जो खोली,
उस गुल के सेवा आलमे हस्ती में न सूझा।

देखे अज़ाब[2] सोज़े मोहब्बत से इस क़दर,
दिल से हमारे खौफ़े जहन्नम निकल गया।
फिर ख्वाब में भी वह नज़र आया न ऐ 'ज़फर',
आंखों के सामने से जो आलम निकल गया।

यों गुम हो जज़बे-इश्क की तासीर या नसीब,
इतनी हो उनके आने में ताखीर[3] या नसीब।
तकदीर के बिगाड़ की तदबीर क्या कहें,
बनती नहीं है कोई भी तदबीर या नसीब।
दिल को हुई नसीब न मेरे शगफ्तगी,
गाहे बरंग गुनच-ए-तसवीर या नसीब।

मुनअमो मुफ़लिस है दोनों बज़्मे हस्ती में खराब,
माल मस्ती में ह वह, यह फ़ाक़ा मस्ती में खराब।
यां तरक्की व तनज्ज़ुली से मिसाल,
गौ बलन्दी में हैं हम और गाह पस्ती में खराब।

नाज़ां न हो दिखला के किसी को हुनर अपना,
तू ढांप सके ऐब किसी का तो 'ज़फ़र' ढांप।

चाहते हैं कब निशां अपना वह मिस्ले नक्शे पा,
जो कि मिट जाने को बैठे हैं फेना[4] की राह पर।

---

१. हैरान। २. कष्ट। ३. विलम्ब। ४. मृत्यु।

दिन और है रात और, ज़मीं और, ज़मां और।
रहते हैं जो खुद रफ़ता जहां है वह जहां और।
यकबार किये नज़र दिली जां तेरी दोनों,
अब क्या तुझे दें हम कि न दिल और, न जां और।
कुछ चश्मतर और सोजे जिगर पर नहीं मौक़ूफ़,
अफ़शाए[1] मोहब्बत के बहुत से हैं निशां और।
महफ़िल से उठा ग़ैर को और इसके एवज़ तू,
रख दे मेरी छाती प कोई संगे गिरां[2] और।

ज्यों बू ए-गुल रफ़ीके नसीम चमन है हम,
ऐ दोस्तो ! वतन में ग़रीबुल वतन हैं हम।
यारो, न रोको इश्क में रोने से तुम हमें,
इससे बुझाते दिल की कुछ अपनी लगन हैं हम।
हैं गर्चे मिस्ले शमा सरापा ज़बां तो क्या,
कह सकते पर ज़बां से नहीं एक सोखन हैं हम।

बसते थे वह जो लोग यहाँ कोई भी नहीं,
खाली पड़े हैं उनके मकां कोई भी नहीं।
दिल सोज़[3] ग़ैर सोज़ यहाँ कोई भी नहीं,
हमदम सिवाए आहो फोगां[4] कोई भी नहीं।
मैं दिल को जानता था बड़ा दोस्त इश्क में,
देखा तो ऐसा दुश्मने जां कोई भी नहीं।
शिकवों से यों तो दिल है लबालब मगर कभी,
आता हमारे ताबे ज़बां कोई भी नहीं।
लूं किसको अपने साथ रेफ़ाक़त[5] में ऐ 'ज़फ़र',
सब्रो[6] शकीब ताबोतबां[7] कोई भी नहीं।

'ज़फ़र' इस आलमे पीरी में तेरे वह इरादे हैं,
कि जिनमें थक के रह जाती जवानो की जवानी है।

हम हुए पीर ऐ 'ज़फ़र' लेकिन,
दिल है अब तक वही जवां अपना।*

---

१. खोल देना। २. भारी पत्थर। ३. जला हुआ। ४. आह। ५. साथी। ६. धैर्य। ७. जल्दबाज।

* "कवि सेवक बूढ़े भये तो भये, पर मौज हनोज मनोज ही को।"

रहीने हाले[1] चमन से उल्फ़त ऐ सैयाद,
हज़ार बार मेरा आशियां बना बिगड़ा।

रोज़ अज़ल से नामे महम्मद का ऐ 'ज़फ़र',
कन्दा[2] है अपने दिल के नगीने पर चार हरफ़[3]।

सितमगर, देख तो हम तुझसे किस उल्फ़त से मिलते हैं,
इस उल्फ़त की जहाँ में आदमी किस्मत से मिलते हैं।
तसव्वर में कभी तस्वीर उनकी देख लेते हैं,
अब उन से जब हम मिलते हैं तो इस सूरत से मिलते हैं।

थे फुल जो अपने घर में मेहमान वह कहाँ हैं,
जो खो गए हैं या रब औसान वह कहाँ है ?
आँखों में रोते-रोते नम भी नहीं है अब तो,
थे मोजज़न[4] जो पहले तूफान वह कहाँ है ?
कुछ और ढब के अब तो हम लोग देखते हैं,
पहले जो ऐ 'ज़फ़र' थे इन्सान वह कहाँ हैं ?

यार नहीं, ग़मख़ार नहीं, हमदर्द 'ज़फ़र' अब कोई नहीं,
कुंजे ग़म में आप ही कहिए दिल को मेरे बहलाए कौन ?

जाहिद न बादानोश हूँ न मये परस्त[5] हूँ,
रहता शराबे इश्क से ही खूब मस्त हूँ।
खुदा के वास्ते जाहिद उठा परदा न काबे का,
कहीं ऐसा न हो यां भी वही काफी सनम[6] निकले।
शौके पा बोस[7] में हम दूर से दौड़े आए,
चूमने को क़दम दूर से दौड़े आए।
खुदपरस्ती बुतपरस्ती से नहीं कम ऐ 'ज़फ़र',
जिसने छोड़ी खुदपरस्ती बुतपरस्ती छोड़ दी।
'ज़फ़र' इस बहरे फ़ना में कोई दम कश्ती-ए-उम्र,
और ज़ेरे फ़लक पीर है चलती फिरती।

करता पैदा आलम आरा आलम में से आलम है,
आलम को दिखलाता अपना आलम में से आलम है।

---

१. उसी दशा में रहना। २. लिखा हुआ। ३. महम्मद, अल्लाह, सब में चार हर्फ हैं। ४. भाव-तरंग। ५. शराबी। ६. मूर्ति। ७. पाँव चूमने के शौक में।

किस-किस का अफ़सोस करें हम आगे से उन आँखों के,
उठ गया ऐ दिल देखा क्या-क्या आलम में से आलम है।
आये अदम से हस्ती में, हस्ती से अदम को जाते हैं,
रखता क्या ही सीधा रस्ता आलम में से आलम है।
हरदम एक नया ही आलम देखते हैं आलम में हम,
देख 'ज़फ़र' क्या पैदा होता आलम में से आलम है।
ज़ुबां पर उसे बुते बेमेहर का गर नाम आता है,
खुदा जाने यह है क्या दिल को एक आराम आता है।

हम कहां और कहां खान-ए-रंगीने[1] जहां,
देखलें और कोई दम है तमाशा बाकी।

अपनी गफलत पर 'ज़फ़र' जाए-तअस्सुफ[2] है कि आह,
हमने सब कुछ जान कर जो आपको नादाँ किया।

खुद-रफ्तगां[3] को रोए कोई क्या किसी तरह,
चल निकले पर क़दम नहीं थमता किसी तरह।

लोग कहते हैं यहा देख के मुझको बखुदा,
ऐ 'ज़फ़र', रहियो तो उस बुत की दग़ा से महफ़ूज़।

इन्सां की जिन्दगी है तो यक-दो[4] नफस तलक,
सामां करे है जीने का लाखों बरस तलक।

क़त्ल आलम को करो तुम, और कज़ा का नाम लो,
ऐ बुतो, तोहमत न लो, देखो, खुदा का नाम लो।
ग़म मुझे खाने को दो, और खूने-दिल पीने को दो,
ऐ तबीबो[5]! नै ग़ज़ा का, नै दवा का नाम लो।
यह खता साकी से हो बरहम करे वह जुल्फ को,
औ खतावारों में तुम उस बेखता नाम लो।

जो तुम्हारे जी में है नासहो फर्मा-ओ तुम,
पर न मेरे सामने तर्के-वफ़ा का नाम लो।

शोला है वही, शमा वही, माह वही है,
खुरशीद[6] वही, नूरे-सेहरगाह[7] वही है।

१, रंग-बिरंगी दुनियाँ। २. रश्क की जगह। ३. अपनी राय पर चलने वाला। ४. सांस। ५ हकीम, वैद्य। ६ सूर्य। ७. उषाकाल की ज्योति।

१२

सिपाही-विद्रोह और ज़फ़र

सन् सत्तावन के सिपाही-विद्रोह का दिल्ली में काफ़ी जोर रहा, बादशाह बहादुरशाह 'ज़फ़र' का इसमें हिस्सा बटाने की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक की कई जगहों पर की जा चुकी है । उन्होंने इसमें भाग अवश्य लिया पर वह जिस रीति से अंग्रेजों से लड़ना चाहते थे वह न हुई । बलवाई उनके बताये हुए मार्ग पर न चले और अन्त में अपने ही कामों से अपने ध्येय में विफल रहे । वजाय इसके कि वे स्वाधीनता की लड़ाई लड़ें, उन्होंने लूटमार का रास्ता पकड़ा और सर्वसाधारण की सहानुभूति खो बैठे । यही नहीं, मराठों की भाँति वे आपस में लड़ते रहे । और पारस्परिक कलह में अपने शुद्ध उद्देश्य को भुला दिया । ज़फ़र ने भरपूर चेष्टा की कि वह उन्हें सच्चे रास्ते पर लायें, किन्तु असफल रहे । लूटमार, जातीय विद्वेष, आपसी झगड़ों को वह न मिटा सके । दिल्ली में ज़फ़र के असफल होने के ये प्रबल कारण हैं । साथ-साथ पैसों की कमी भी उसकी सफलता के मार्ग में भारी रुकावट साबित हुई । लाहौर के तत्कालीन चीफ़ कमिश्नर के पास दिल्ली से पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट की ओर से रोजाना जो रिपोर्ट भेजी जाती थी और जिनमें उसके बहाल किए हुए कैदियों के बयान होते थे उनसे ये बातें साफ़-साफ़ परिलक्षित हैं । उसके कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं । पंजाब सरकार के दफ़्तर में ये सारी रिपोर्टें सुरक्षित हैं ।

२३ मई की रिपोर्ट से—

दिल्ली की चारों ओर बलवाइयों के द्वारा लूटमार जारी रहने के कारण शहर में ईंधन, नाज, घास आदि की बड़ी कमी हो गयी है । १६ मई को शहर में ५५ स्त्री, पुरुष, बच्चों को बलवाइयों ने मार डाला ।

२४ मई—

फज्जर नवाब के प्रतिनिधि महम्मद इब्राहिम खाँ तथा अब्दुल गफ़ूर खाँ...... ..बादशाह से मिले और मेरठ के जत्थे से मिल कर लड़ने

की इच्छा प्रकट की । मेरठ में १७०० अंग्रेज़ों की एक टोली रुकी हुई है जो बगल से जाने वाले हरेक काले आदमी को गोली का शिकार बना डालती है ।..........बादशाह ने आज एक घोषणा-पत्र निकाला जिसमें कहा है कि हिन्दू और मुसलमान शान्तिपूर्वक साथ-साथ रहें, जो कोई भी हिंसा का मार्ग पकड़ेगा वह कठिन दण्ड का भागी होगा ।

१० जुलाई—

बादशाह ने अपनी तथा अंग्रेज़ों की दशा पर दो शेर रचे हैं जो इस प्रकार हैं—

फ़ौज से मैं घिरा हुआ हूँ मुझे न चैन है, न शान्ति । मेरा जीवन मात्र ही शेष है जिसे वे शीघ्र ही समाप्त कर डालेंगे ।

फारस तथा रूस की फौजें ब्रिटिश जाति का बाल बाँका न कर सकीं पर बन्दूक के एक अशुद्ध टोटे ने उनकी शक्ति की नींव हिला दी ।

१९ जुलाई—

बादशाह ने आज हुक्म निकाला है कि जो कोई भी गो-बध करेगा वह बन्दूक से उड़ा दिया जायगा ।

२९ जुलाई—

हिन्दु-मुसलमानों के बीच अनबन बढ़ती जा रही है ।........बादशाह ने गो-माँस की बिक्री पर....कैद लगा दिया है । धर्मान्ध मुसलमान इससे बहुत असन्तुष्ट हैं और अगले ईद के दिन बारेयाम सड़क पर गो-बध करने का सोच रहे हैं......।

८ अगस्त—

शाहज़ादा मुहम्मद आज़म.....हाँसी के बलवाइयों के साथ शामिल होने को गये हैं ।......बादशाह आज दिन भर शायरी करते रहे । अपनी एक ग़ज़ल के अन्त में उन्होंने लिखा है—मैं, ज़फ़र, (यह उनका तखल्लुस, शायरी का नाम, है) अब वह दिन करीब है कि लन्दन तक पर अपनी सत्ता स्थापित करने में समर्थ हो सकूँगा.........।

७ अगस्त—(खुफ़िया गौरीशंकर का बयान)

अंग्रेज़ों का कोई दोस्त नहीं है, बल्कि बहुतेरे जन बादशाह की आज्ञा पर चलने को तैयार हैं ।...........कल हकीम अहसनुल्ला खाँ के मकान को लूट कर सिपाहियों ने उसमें आग लगा डाली.........हकीम

क़िले में कैद हैं । सिपाहियों ने उन्हें माँगा और बादशाह के जीवन तक पर, यदि उनकी माँग पूरी नहीं की गयी तो आघात करने की धमकी दी। अन्त में बादशाह ने हकीम को उनके सुपुर्द किया पर कहा कि यदि उनके जीवन पर हमला हुआ तो वह स्वयं अपनी जान दे देंगे।.........ज़ीनत महल तक पर विद्रोही सिपाही शंका कर रहे हैं। शहर के मुसलमानों का कहना है कि यदि बादशाह न रहे तो वे भी न रहेंगे। आज क़िले में कोई सम्माननीय व्यक्ति न गया। सभी अपने-अपने घर पर हैं तथा दूकानें बन्द हैं। ज़ीनत महल के घर पर कड़ा पहरा है।

१० अगस्त—

सिपाही हकीम अहसनुल्ला खाँ तथा ज़ीनत महल के प्राणों की माँग कर रहे हैं।.........हकीम के पकड़ने से बादशाह बहुत नाराज़ हैं।

दरिया गंज में नवाब हसनुल्ला खाँ के मकान में बारूद बनाने का कारखाना बैठाया गया है जो अंग्रेज़ों की तोपों के निशान से परे है।

बादशाह ने आज गद्दी त्यागने की इच्छा प्रकट की है......बादशाह फ़ौज के आचरण से बहुत नाराज़ हैं।

१२ अगस्त—

हरेक मोहल्ले तथा हरेक फाटक पर संतरी रख दिये गये हैं जो किसी को भी उस रास्ते से आगे नहीं जाने देते जब तक कि वह जान-पहचान का न हो अथवा मोहल्ले के किसी विशिष्ट व्यक्ति की सिफारिश न रखता हो, इसी लिए आज खबरें न आ सकीं चूंकि हरकारे संवाददाता के पास न पहुँच पाये।

हकीम अहसनुल्ला खाँ का मकान जल कर भस्मीभूत हो गया। उनकी जान खतरे में है।

१५ अगस्त—

खबर मिली है कि इन्दौर की फ़ौज यहाँ आ रही है। रास्ते में किसी राजा ने उसे रोक रक्खा है.........फ़ौज का एक जमादार सिपाहियों की ओर से एक अर्ज़ी लेकर आया है। बादशाह ने उक्त राजा के पास आदेश भेजा है कि वह फ़ौज को आगे बढ़ने से न रोकें तथा फ़ौज को हेदायत है कि वह दिल्ली की ओर अग्रसर हो।

३१ अगस्त—(गौरीशंकर का बयान)

कल बरेली के एक ज़िमींदार याक़ूल अली खाँ पाँच सौ सिपाहियों के साथ तथा लखनऊ से कुदरत अल्ला बेग दिल्ली आये और बादशाह से भेंट की।.........सेबूगढ़ से प्राचीन मुग़ल बादशाहों के ज़माने की दो तोपें पायी गयीं हैं। यह बात गुप्त रखी गयी है तथा इनके पास किसी के जाने की इजाज़त नहीं है वर्ना मैं खुद जाकर इन्हें देखता और इनके सम्बन्ध में आँखों देखी बातें लिखता।.........बादशाह तथा उनके परिवार के लोग भोजन की कमी से दुःखी हो रहे हैं। आज मोहर्रम का आखिरी दिन है, फिर भी दरबार न लगा.........।

५ सितम्बर—(गौरीशंकर से प्राप्त संवाद)

कल क़िले में वेतन को लेकर बड़ा चीं-पों मचा। सिपाहियों के दो दस्तों ने बादशाह के रहने का स्थान घेर लिया; बादशाह फ़ौरन बाहर निकल आए, सुबेदारों ने वेतन माँगा। बादशाह ने कहा—"मैंने तुम लोगों को यहाँ आने को तो नहीं कहा, मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं, मेरे पास देने को रुपए भी नहीं हैं।" बहुत शोर मचा, अन्त में अवकाश प्राप्त रिसालेदार सलीमशाह ने उन्हें समझा-बुझा कर शान्त किया। बादशाह ने कहा कि उनके पास केवल ४०,००० रुपये हैं जिन्हे वे खुशी से ले जा सकते हैं। सूबेदारों ने कहा—"इससे सिपाहियों का काम न चल सकेगा।" बादशाह ने फिर कहा, मेरे पास तो १०१ अशर्फियाँ हैं जिन्हें बरेली के नवाब ने हाल ही में नज़र दिया था, उन्हें ले लो। सुबेदारों को इससे भी सन्तोष न हुआ तो बादशाह ने ज़नानखाने के सारे ज़ेवरात देने का वादा किया तथा जिस कुर्सी पर वह बैठे हुए थे उस से उठ कर कारचोपी के काम की हुई अपनी गद्दी उनके सामने फेंक दी और उन्हें लेने को कहा। दरबारी जो वहाँ उपस्थित थे इससे बड़े दुःखी हुए तथा सुबेदारों को वहाँ से बाहर हटाया। दरअसल मोसाहरे को ले कर फिलहाल बड़ी गड़बड़ी चल रही है। भगवान ही शहर और क़िले की रक्षा कर सकते हैं!

तूरब अली का बयान—

मैं यह सुनकर के कि अफ़सरान वेतन माँगने क़िले को गए हैं, राजप्रासाद में दाखिल हुआ। लगभग ५०० आदमियों की एक भीड़

दिवाने खास के इर्द-गिर्द खड़ी थी--मिर्ज़ा मुग़ल अबु बख्त तथा खिज़र सुल्तान शाहज़ादा इस भीड़ से घिरे हुए थे । सिपाही शोर कर रहे थे कि हकीम अहसुनुल्ला की वजह से ही हमें वेतन नहीं मिल रहा है । वे चिल्ला-चिल्ला कर हकीम साहब के फाँसी पर चढ़ाने तथा शाहज़ादे के बर्खास्त की माँग पेश कर रहे थे······बड़ी अशिष्टता एवं भयंकरता के साथ वे इन माँगों को पेश करते थे······मिर्ज़ा मुग़ल ने अपनी जान के भय से पीड़ित हो मिर्ज़ा इलाही बख्श को बुलवा भेजा ताकि वह इन सिपाहियों को शाँत कर सकें । इलाही बख्श का प्रयास सफल हुआ तथा वह इन्हें बादशाह के सामने ले गए । बादशाह ने रुपये की कमी से वेतन देने में अपनी असमर्थता प्रकट की । सिपाहियों ने कहा--"तो ऐसी दशा में हम क़िला एवं शहर दोनों को लूटेंगे तथा दरबार के सभी दरबारियों को खत्म कर डालेंगे।" बादशाह ने इसे सुनते ही अपने राजासन को फेंक कर हुक्म दिया कि दरबार की सारी सम्पदा--घोड़े, हाथी, फ़ल, बेगमों के जवाहरात तक--उनके हाथों में दे दिये जाएँ, और फिर मक्का की ओर मुंह कर के वह रो उठे, बोले, मेरे पापों का ही यह दंड है।······उनकी यह दर्दभरी बातें सुनकर दरबार के सारे लोग तथा बेगमों की आँखे आँसुओं से भर आयीं, यहाँ तक कि फ़ौज के सिपाही भी शर्मिन्दा अनुभव करने लगे । बोले, घोर दुःख और भूख से त्रस्त हो कर ही हमें ऐसा करना पड़ा······मिर्ज़ा मुग़ल ने ४०,००० रुपये बाहर ला कर दिया और अनुरोध किया कि वे इस रकम को तबतक स्वीकार कर काम चलायें । शहर के प्रभावशाली व्यक्तियों ने जब इस संवाद को सुना तो क़िले को दौड़े और आपस में चन्दा कर ढेढ़ लाख रुपये बादशाह को सहायतार्थ इकट्ठा किये······बादशाह तथा नगर निवासियों के लिए इन ज़ालिमों से बचना मुश्किल हो रहा है । पिछली रात मुफ्ती सदरुद्दीन के घर पर आधी रात तक मंत्रणाएँ होती रहीं और आज सुबह ही बादशाह के पास कुछ लोग मिलने गए हैं । ३ अगस्त को मुंशी आग़ा जान तथा वारिस अली ने दस-दस हजार रुपए देने का वादा किया था ।

६ सितम्बर--(तूरब अली द्वारा प्राप्त संवाद)

ग्वालियर के सवार तथा बरेली के अफ़सर बड़ी धृष्टतापूर्वक वेतन माँगने गए । बादशाह ने कहा--मैं बार-बार कह चुका हूँ कि मैं

मरने को तैयार हूँ, बेहतर है कि आप मुझे मार ही डालें………। कल और आज मिला कर ६०० सवार, दक्षिण के रहने वाले, फौज छोड़ कर चले गए।

१७ सितम्बर——(गौरीशंकर का बयान)

पिछले दो दिनों में आधे से अधिक नागरिक शहर छोड़ कर भाग गये। कई बेगमें तथा शाहज़ादे भी। जो रह गए हैं वे भी भागने की ही चिन्ता में हैं। दिल्ली शहर तीव्र गति में मृतकों का नगर बनता जा रहा है। अंग्रेजों को आगे बढ़ते देख विद्रोही सिपाही यत्र-तत्र भाग रहे हैं। अजमेरी, लाहौरी तथा देहली दरवाजों पर कुछ मुकाबला कर रहे हैं पर ये भी अधिक काल तक मुकाबला करने का इरादा नहीं रखते। ………कुछ ही काल में दिल्ली के बाकी दरवाज़ों पर भी अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हो जायगा, ऐसा प्रतीत होता है। फिर दिल्ली का पतन पूर्ण होगा। जैसा कि काश्मीरी दरवाज़े पर हुआ, एक ओर से सबों का अन्धा-धुन्ध तरीके पर क़त्ल करना उचित नहीं। खुदा के वास्ते सिपाहियों को इससे रोकें। दोषी के साथ निर्दोषी भी मारे जा रहे हैं। दिल्ली के पतन के बाद मैं स्वयं कुसूरवार लोगों के नाम बताऊँगा।

"दिल्ली की खबरें"——१८५७, (मई से सितम्बर तक) यहीं समाप्त होती हैं, सिपाही-विद्रोह की, दिल्ली के रंग-मंच पर की, यवनिका का पतन होता है। ये सारी रिपोर्टें, जिनमें अंग्रेजों के बहाल किए हुए खुफ़ियों के बयान हैं, जी० सी० बार्नस् नाम के किसी पोलिटिकल विभाग के अफ़सर के हस्ताक्षर के साथ हैं। इनसे यह साफ़ ज़ाहिर है कि (१) यद्यपि बहादुरशाह के सिपाही विद्रोह में शामिल हुए पर उसे वह एक स्वतन्त्र युद्ध का रूप देना चाहते थे, लूटमार का नहीं। (२) निर्दोषों के प्रति उन्हें हिंसा का मार्ग पसन्द नहीं था। (३) हिन्दू-मुसलमान के बीच किसी प्रकार का संघर्ष उन्हें बिलकुल ही नापसन्द था। (४) हिन्दू-भावनाओं पर किसी प्रकार का आघात——चोट——न पहुँचे इसके लिए वह सतत यत्नशील थे। (५) आश्रितों के रक्षार्थ वह अपना प्राण तक देने को तैयार हो जाते थे तथा (६) अर्थाभाव के कारण ही वह युद्ध का समुचित संचालन न कर सके——दिल्ली के शीघ्र पतन का अर्थाभाव एक प्रबल ही नहीं बल्कि सर्वश्रेष्ठ कारण था। स्पष्ट है कि दिल्ली ही नहीं, सारे

मुल्क में यदि विद्रोहियों के पास संगठन एवं अर्थकी कमी नहीं होती तो स्वतन्त्रता का यह युद्ध विफल न होता । पर, "विनाश-काले विपरीत-बुद्धि ।" बलवाई इसे न समझ पाए, किसी और ही रास्ते पर चलते रहे। सिवाय एक-दो को छोड़कर, सभी अलग-अलग खिचड़ी पकाने में संलग्न रहे, मुल्क के तमाम विद्रोहियों का एकीकरण कर एक सम्मिलित शक्ति स्थापित करने की किसी ने भी चेष्टा न की। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों के अन्दर अंग्रेज़ पुनः शक्तिशाली बन गए। ५७ का यह विद्रोह बुरी तरह कुचला गया तथा इसमें भाग लेनेवालों के प्रति उन्होंने घोर प्रतिहिंसा का आश्रय लिया जैसा कि इस पुस्तक में अन्यत्र दिए गए एक चित्र से ज्ञात होगा जिसमें लेफ़टिनेन्ट हडसन अपने हाथों दिल्ली के शाहज़ादों का क़त्ल कर रहा है, दो नीचे मर कर गिरे हुए हैं, एक बचने के निष्फल प्रयास में है।

स्पष्ट है कि यदि विद्रोह में भाग लेनेवाले बहादुरशाह के निर्देशित मार्ग पर चलते तो स्थिति भिन्न होती। अपने आचरण से जन-साधारण की वे सहानुभूति न खोते, बल्कि एक बड़े परिमाण में वह उन्हें प्राप्त होती तथा अर्थसंकट से भी उनका साहाय्य प्राप्त कर वे मुक्त होते । अफ़सोस ! उन्होंने ऐसा न किया, तथा इन देशभक्तों के सारे बलिदान व्यर्थ गए !

१३

अन्तिम मुग़ल बादशाह, उनका जीवन तथा

दिल्ली सूबे की तत्कालीन अवस्था

मुग़ल साम्राज्य का इतिहास, अनेक विद्वान इतिहासकारों का कहना है, कि मुहम्मद शाह के साथ-साथ ही शेष हो जाता है। जहाँ तक शासन-शक्ति तथा राज्य-विस्तार का सम्बन्ध है, यह बहुत अंशों तक सत्य है पर वह राजवंश जिसकी नींव बाबर ने डाली थी और जिसे अकबर ने दृढ़ बनाया, यहीं आकर समाप्त नहीं हो जाता। मुहम्मद शाह के बाद और इस वंश समाप्ति के पूर्व तक मुग़ल बादशाहों का समाज पर काफी प्रभाव रहा तथा शाही दरबार अब भी सामाजिक तौर-तमीज़, रस्मो-रिवाज, शिष्टाचार का उद्गम-संस्थान तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों के संस्कृति-समन्वय का सबसे बड़ा केन्द्र बना हुआ था, तत्कालीन हिन्दू और मुसलमान दोनों ही शाही दरबार के कायदों को आदर्श मानते रहे और उनके अनुसार ही अपने सामाजिक आचार विचारों की सृष्टि की। क़िले के बाहर यद्यपि विदेशी शासन का अड्डा जम चुका था, क़िले के भीतर के कायदे-कानून, तहज़ीब, अब भी वैसे ही थे जैसे कि सम्राट् अकबर या शाहजहाँ के समय में। इस दृष्टि से मुग़ल बादशाह अब भी एक ऐसी शक्ति थे जिसका तत्कालीन समाज पर पूर्ण प्रभाव एवं आधिपत्य था। तात्पर्य मुग़ल-वंश के तीन अन्तिम बादशाहों......शाह आलम, अकबर शाह और बहादुर शाह से है। इन तीनों ने ही बावजूद सारी दिक्कतों, आपदाओं, आर्थिक संकटों के अपना जीवन बड़े बढ़प्पन के साथ बिताया। भारतवर्ष के उस गम्भीर राजनीतिक निशा में उन्होंने, खासकर मुग़ल-वंश की अन्तिम ज्योति बहादुर शाह द्वितीय ने, वही काम किया जो अन्धेरी रात में दीपक करते हैं अर्थात् दिनमणि के अस्तंगत हो जाने पर संसार को यथाशक्ति प्रकाश-प्रदान। जिस प्रकार प्रदीप अवसान प्राप्ति के पूर्व एक बार जाज्वल्यमान हो उठता है, उसकी अन्तिम लौ अपनी

प्रखर ज्योति दिखला सदा के लिए विलीन हो जाती पर सुस्मृति छोड़ जाती है, उसी प्रकार मुग़ल वंश बहादुर शाह 'ज़फ़र' के रूप में एक बार पुनः झिलमिला उठा और फिर अपनी ज्योति समेट कर सदा के लिए सो गया । वह ज्योति उसकी सैनिक शक्ति की नहीं, उसके साँस्कृतिक बल की थी। बहादुर शाह—जिसका जीवन दर्दो-ग़म में, संघर्षों में, कटा—के सम्बन्ध में ही यह कहा जा सकता है कि वह उन महान् पुरुषों में थे जो कि······ ।

विजय मरण पर भी वे पाते ।
मर कर भी जो दीप-शिखा-से,
ज्योति-स्मृति रख जाते ।
भव-रजनी की तमोराशि में,
लघु प्रदीप सा जलते ।
झंझा के झोंकों से लड़ते,
संघर्षों में पहले ।
पथ दिखलाते हैं कितने को,
व्योम - दीप - सा बनकर ।
लघु होकर भी कार्य साधते,
जां कि दिवा में दिनकर ।

हम जिन दिनों की चर्चा कर रहे हैं वे मुग़ल बादशाहों के लिए बड़ी कठिनाइयों के दिन थे । सम्राज्य उनके हाथों से निकल चुका था, नाम-मात्र को ही वे सम्राट् बने हुए थे । शासन अंग्रेजों के हाथ था तथा जो मासिक वृत्ति मिलती उससे ही उन्हें क़िले के भीतर के सारे खर्च चलाने पड़ते थे । परिवार के व्यय के साथ-साथ सैकड़ों ऐसे परिवारों का भी पालन-पोषण करना पड़ता था जो राजवंश के थे तथा वहीं रहते थे, "सलातीन" । शाही दरबार के प्रचीन ठाट-बाट वही थे और इनके निभाने पर भी काफी खर्च पड़ता था । परिणाम स्वरूप क़िले की अब न तो वह सफ़ाई रह गयी थी जो पहले थी और न इसकी मरम्मत ही पूरी तरह हो पाती थी । मेटकाफ़् (अंग्रेज़ रेज़िडेण्ट) तक ने जो इन बादशाहों के सदा खिलाफ़ रहा, अपने एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उच्चाधिकारियों को लिखे गये खत में यह स्वीकार किया था कि क़िले के जो हिस्से नष्ट-

ज़ीनत महल बेगम

प्राय हैं उनकी मरम्मत में काफ़ी खर्च पड़ेगा। बहादुर शाह ने यथा-साध्य किले की मरम्मत और सफाई में तरक्की लाने की चेष्टा की, यमुना नदी की ओर एक नया मंच भो बनवाया, पर अर्थाभाव से अधिक कुछ न कर सके। किले की दशा पूर्ववत् ही बनी रही। किले के भीतर एक लम्बी दीवार के घेरे में बादशाह के बन्धु-बान्धव, वे जिनके पूर्वज किसी वक्त तख्तनशीन थे, "सलातीन" रहा करते थे। इनकी अवस्था और भी दयनीय थी। अर्धनग्नावस्था में, आधा पेट खाकर, किसी भाँति जीवन के दिन बिताते थे, पर वंश-गौरव के कारण किले से बाहर रहना उन्हें स्वीकार न था।

बादशाह की बेगमें पर्दे में रहतीं तथा उनके वासस्थान, (जनाने में,) बिरले जन ही प्रवेश पाते थे। बादशाह अकबर सानी की बेगम (सम्राज्ञी)के साथ एक विशिष्ट परिवार की अंग्रेज़ महिला मिलने गयी थीं, इन्होंने अपनी मुलाकात का इस प्रकार वर्णन किया है––

"मैं महल में पहुँचायी गयी जहाँ बादशाह और महारानी मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। बादशाह एक खुले मैदन में, आराम कुर्सी पर लेटे हुए, हुक्के के सहारे धूम्रपान में निरत थे, बगल में महारानी फर्श पर, मसनद के सहारे, बैठी थीं। दरवाज़े पर ही अपने जूते उतार कर, मैं उनके पास गयी, सलाम की और बादशाह तथा महारानी को नज़र दी। महारानी ने मुझे अपने पास ही कार्पेट पर बिठाया। मैं जब तक वहाँ रही, मनोरंजक बातें होती रहीं। इंग्लैंड, वहाँ की सरकार, अंग्रेज़ी दरबार के कयदे-कानून, लोगों की आदतें, मेरे निजी परिवार की बातें, इंगिलिस्तान की आबोहवा आदि के सम्बन्ध में बादशाह पूछ-ताछ करते रहे, एक क्षण के लिए भी हमारी बातें बन्द न हुईं। सम्राट् तथा सम्राज्ञी की शिष्टता ने मानो मुझे वशीभूत कर लिया और मैं विस्तार-पूर्वक सारी बातों का जवाब देती रही।

चलते समय सम्राट् ने हाथ मिलाये, साम्राज्ञी ने मुझे गले लगाया और मुझे एक काम्दार गलावन्द भेंट के रूप में दिया। और फिर एक अँगूठी मेरी अँगुली में पहना दी और कहा कि "यह मेरी याद दिलाती रहेगी।" मैंने खेद के साथ इन्हें स्वीकार किया, चूँकि मैं उनकी आर्थिक कठिनाइयों को भली भाँति जानती थी पर उनकी भावना पर चोट

पहुँचाना न चाहती थी।

सम्राट् यद्यपि वृद्ध हो चुके थे, फिर भी देखने में अत्यन्त भव्य और सुन्दर हैं। एशियाई लोग साधारणतः जैसे होते हैं, उनसे कहीं अधिक साफ, रुपहले केश तथा चेहरे पर तीक्ष्ण बुद्धि के चिन्ह अंकित हैं। बात-चीत में बड़े नम्र और सुसंस्कृत हैं। तमीज़दारी में यूरोप के किसी भी शिष्ट व्यक्ति से कम नहीं। कई लोगों ने, जिनको उनके संग काफ़ी घनिष्टता रही है, मुझे बताया कि वह बड़ी पवित्रता तथा संयम का जीवन बिताते हैं, दरवेशों की भान्ति अपनी आय के अधिक पैसे दान में खर्च करते हैं। साम्राज्ञी का व्यवहार भी अत्यन्त ही शिष्ट तथा नम्रतापूर्ण है। वह तीक्ष्ण बुद्धि भी है।"

बिशप हिबर (Bishop Heber) ने भी अपनी यात्रा-वर्णन में बादशाह तथा शाही दरबार का विस्तृत चित्र खींचा है। रोचक भी है। लिखते हैं—

"३१ दिसम्बर के ८½ बजे सुबह बादशाह के साथ मेरे मिलन का समय निर्धारित हुआ। लुशिगंटन तथा कैप्टन वाडे के मिलने का भी। आठ बजे मिस्टर इलियट के साथ मैं गया। दरबार के तौर-तरीके बहुत कुछ लखनऊ जैसे ही थे, अन्तर इतना ही कि पालकी की जगह हम लोग हाथी पर गए तथा भिखमंगे वहाँ से कम तकलीफ-देह और शोर मचाने वाले नज़र आए। क़िले के बाहरी घेरे के समीप पहुँचते ही राज-भवन के सशस्त्र सिपाहियों ने हमें सलामी दी। फिर हम अत्यन्त श्रेष्ठ एवं सुन्दर दरवाज़ों से होकर आगे बढ़े। मैंने आजतक ऐसे सुन्दर द्वार अन्यत्र नहीं देखे थे······एक गन्दे अस्तबल के पास हम रुके और हाथी से नीचे उतरे। यहाँ कैप्टन ग्रान्ट बादशाह के एक सुरक्षा-अफ़सर की हैसियत से तथा कतिपय वृद्धजनों ने जिनके हाथों में सोने की मूठ लगी छड़ियाँ, जो पद के चिन्ह मानी जाती हैं, थीं, हमारा स्वागत किया। मिस्टर इलियट के हाथ में भी इसी प्रकार की एक छड़ी थी।

अब हम पाँव-पैदल चले। गत वृष्टि के कारण मेरी गाउन तथा पतले जूतों के लिए बड़ी असुविधा का कारण हुआ। फिर भिक्षार्थियों का एक नया दल तथा अस्तबल के नौकरों की स्त्रियाँ और बच्चे हम पर आ टूटे और अपनी माँगों से हमें तंग करने लगे। इसके बाद हम एक

दूसरे द्वार पर आए जिस पर नकाशी के बारीक काम बने हुए थे। और तब हमारे पथ प्रदर्शक ने पर्दा हटाकर जोरों में प्रकाश—गौहरे आलम, जहाँ पनाह, शाँहशाह । बादशाह अकबर शाह। अदल जुस्तर[1], आली-नसीब[2], फातेह[3]। और हम एक बड़े सुन्दर तथा चिताकर्षक दरबार के अन्दर दाखिल हुए। सम्मुख में संगमरमर का एक विस्तृत मंडप, नकाशी के कामों से अलंकृत, गुलाब की लताओं तथा झरनों से परिवेष्ठित, बने हुए पिछ्वई के पर्दो से सुशोभित, विध्यमान था। इसके भीतर लोगों की एक जमघट-सी लगी हुई थी। और इन से घिरे हुए तैमूर वंश के सम्राट् विराजमान थे। मिस्टर इलियट ने इन्हें देखते ही तीन बार झुककर अभि-वादन किया और हमने इनका अनुसरण किया। हम आगे बढ़े और नकीब ने पुनः पुवर्वत् चिल्लाकर बादशाह के नाम पुकारे। संगमरमर के राजासन की दाहिनी ओर हम आदमियों की कतार में खड़े हो गए। फिर मिस्टर इलियट कुछ आगे बढ़े और हाथ जोड़ कर धीमे स्वर में मेरा नाम कहा। तब मैं आगे की ओर बढ़ा, तीन बार सलाम किया तथा रुमाल पर रखे हुए एक ज़रदोज़ी के बटुए में ५१ अशर्फियाँ रखकर नज़र कीं। बादशाह ने इन्हें लेकर अलग रख दिया और मेरे स्वास्थ्य, यात्रा आदि के सम्बन्ध में पूछताछ की। और इस प्रकार मुझे उन्हें देखने का पूरा मौका हासिल हुआ। उनका चेहरा पीला, पतला तथा सुन्दर है, आँखे गरुड़ जैसी, दाढ़ी लम्बी, घनी तथा सफेद है। गौरवर्ण, हाथ अत्यन्त ही कोमल एवं बहुमूल्य अंगूठियों से शोभायमान हैं।……मैं पुनः अपनी जगह पर आ खड़ा हुआ। फिर पाँच अशर्फियाँ लेकर उनके भावी उत्तराधिकारी शाहज़ादे की नज़र देने आगे बढ़ा। वह बादशाह की बाँयी ओर खड़े थे। रेजिडेन्ट दाहिनी ओर। उन्होंने हमारे दोनों साथियों का परिचय बादशाह सलामत को दिया पर उन्होंने उनसे कोई पूछताछ न की। बादशाह ने मुझे अपने पास आने का संकेत किया, मैं गया। मिस्टर इलियट ने मुझे सिर से हैट, जो अब तक सिर पर ही था, हटाने को कहा। मैंने हटाया, और बादशाह ने मेरे सिर पर किनखाब की एक पगड़ी बाँध दी। मुझे पुनः पाँच अशर्फियाँ नज़र देनी पड़ीं। तदुपरान्त हमें आज्ञा हुई कि हम बगल के एक कमरे में जा

---

१. न्यायी। २. भाग्यवान। ३. विजेता।

कर बादशाह से प्राप्त खिल्लत (सम्मान सूचक पोशाक) धारण करें। वहाँ हमारे नौकर ने बदन पर एक फर (बाल) लगा हुआ चोगा पहनाया तथा दो दुशाले डाल दिए । इसी पोशाक में मैं पुनः बादशाह के सम्मुख आ उपस्थित हुआ, तथा अरबी भाषा में लिखी गई बाईबल की एक प्रति तथा हिन्दुस्तानी की प्रार्थना-पुस्तक बादशाह को भेंट की। स्वर्ण-मंडित मखमल की जिल्द में ये बंधी थीं तथा किनखाब के एक टुकड़े में लपेटी। इन्हें स्वीकार कर उन्होंने मुझे झुकने को कहा । मैं झुका और उन्होंने मेरे गले में मोती की एक माला पहना दी । पगड़ी पर कुछ साधारण कीमत के गहने लगा दिए। मैने पुनः पाँच अशर्फियाँ भेंट कीं। इसके बाद घोषणा हुई कि बादशाह ने मुझे इनाम में एक घोड़ा प्रदान किया है और मैंने उन्हें पाँच अशर्फियों की पुनः सलामी दी । तान तीन दफ़ा झुककर सलाम किए और बादशाह से विदा ली । ड्रेसिंग रूम में आकर कपड़े बदले, सम्राज्ञी के पास पाँच अशर्फियाँ बतौर सलामी के भिजवायीं और घर वापस आया।"

ये बातें जिसके सम्बन्ध की है वह थे बादशाह अकबर सानी बादशाह शाह आलम के लड़के जिनके सम्बन्ध में एक दो नहीं बल्कि दर्जनों विदेशी यात्रियों ने प्रशंसा के शब्द लिखे हैं । लेडी नुजेन्ट नामक एक अंग्रेज़ महिला ने १८१३ में तथा मेजर आर्चर ने जो लार्ड कम्बर-मियर के साथ हिन्दुस्तान आए थे, १८२७ में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी, लिखा था—

The King appears to be upwards of sixty years old : he is remarkably healthy, strong man, exceedingly good-looking and is fairer then the generality of the upper classes : a venerable white beard adds dignity to his countenance, while his dark intelligent eye impresses all in his favour, and gains him credit for benevolence and goodness of heart, which amiable qualities are verified by all those who have the honour of any intercourse with him.

अकबर शाह एक साधु प्रकृति के मनुष्य थे, सादगी तथा पवित्रता के साथ जीवन बिताया। सबों के आदर एवं प्रशंसा के भाजन बने रहे। उनके उत्तराधिकारी मिर्ज़ा अबुल ज़फ़र दिल्ली के अन्तिम बादशाह थे

जिनका बादशाही नाम बहादुर शाह (द्वितीय) था। वंश के यह उन महा-पुरुषों में थे जिन पर उसे गौरव हुआ करता है। उसके सम्बन्ध में प्राचीन इतिहासकारों ने अनेक भ्रान्तियाँ फैलायीं जिसका मुख्य कारण उनका सन् ५७ के सिपाही विद्रोह में भाग लेना और उसके फलस्वरूप अंग्रेज़ों के कोप का भाजन बनना था। स्वाभाविक था कि अंग्रेज़ उनसे रुष्ट होते। ग़दर के समाप्त होते-न-होते उन्होंने बहादुरशाह पर मुकदमा चलाया और उन्हें दोषी साबित कर रंगून ले गए। वहीं कैद में उनकी मृत्यु हुई। विधि की यह भी एक बड़ी विडम्बना थी कि वे जो कि मुग़ल बादशाह के पास भिक्षार्थी बन कर आए और उनसे भारत में व्यापार करने और कोठी बनाने की इजाज़त चाही, अन्त में मुग़ल वंश के विनाश के कारण बने ! परमात्मा की लीला, पर, अपरम्पार है। बड़े-से-बड़े को लघुतम एवं निम्नातिनिम्न को उच्चतम स्थान प्रदान करना उसके रोज दिन के काम हैं : क्षुद्रतम जीवों से भी वह महान् कार्य करवा डालता है। जैसा कि किसी कवि ने कहा है—

चींटी के पाँव में बाँध गयन्दहि,
चाहे समुद्र के पार लगावे।

प्राचीन अंग्रेज़ इतिहासकारों ने बहादुरशाह पर तोहमत लगाने तथा उन्हें काला दिखाने की भरपूर चेष्टा की और यही कारण है कि इतिहास में गुणशाली होकर भी वह स्थान न पा सके जिसके सब प्रकार से योग्य थे। अक़बर इलाहाबादी ने ठीक ही कहा था—

यूरोप वाले जो चाहें दिल में भर दें,
जिसके सर पर जो तोहमत चाहे धर दें,
बचते रहो इनकी तेजियों से 'अकबर',
तुम क्या हो, ख़ुदा के तीन टुकड़े कर दें।

आश्चर्य है कि सर यदुनाथ सरकार जैसे विद्वान इतिहासज्ञ भी इनके सम्बन्ध में मौन ही रहे। पर हमें आये दिन एक अंग्रेज़ विद्वान की लिखी ऐतिहासिक पुस्तक देखने को मिली, जिसमें उसने बड़े न्यायपूर्ण ढंग से बहादुर शाह ज़फ़र के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। लिखा है—

He (Bahadur Shah) was in fact the best, rather than the worst of the late Mughal Kings. The shadow of the mutiny has darkened his fame and turned the philosopher poet of fact into the scheming rebel of alleged history. But it should be remembered that Bahadur Shah was 82 years of age when the mutiny broke out. For years travellers had been writing of his senility and feebleness. Mutinious Sepoys seized the palace and treated him so disrespectfully that he threatened to retire to the Shrine of Qutab Sahib as a pir or religious devotee, and those same critics denounced him as an arch-intriguer and conspirator, as one of the Chief Villains of the whole tragedy. These charges neutralize each other, and they are typical of a whole school of criticism of late Mughal Delhi. If the king kept up his palace, he had too much money and his allowance must be cut down ; if he lived within his income, his establishment was squalid, and should be abolished. If he maintained his dignity and the traditional etiquette, he was preposterous ; if he was ready to give it up, there was no need to maintain him in the palace. If a prince was idle and dissolute, it was a proof of Mughal effeteness; if he showed any signs of character, he was dangerous and not to be countenanced.

To satisfy these critics Bahadur Shah should either have resisted the Sepoys as fled from them. But no one has ever suggested how he could have done either. His own guard and most of his family had joined the mutineers. Was the octogenerian expected to rush out upon them, berserk, and to die resisting the restoration of the very authority he had always claimed for himself. Alternatively, where was he to fly ? How was this young gallant to reach a non-existent British army in the hight of the hot season ? Perhaps he was to ride alone in disguise like Sir John Metcalfe to rest by day in caves and guide himself by the stars at night, until he reached a friendly British Camp. And how friendly would it have proved ? Bahadur Shah must be judged on the evidence of his whole life, and not by the wor superficial travellers or of

soilders unbalanced by the strains of war, fatigue and racial passion.

अर्थात् इसमें कोई शक नहीं कि अकबर के लड़कों में वह सबसे योग्य उत्तराधिकारी था बल्कि अन्तिम मुग़ल बादशाहों में वह सबसे योग्य था। पर सिपाही विद्रोह की घनी छाया में उसके चरित्र का रूप ही बदल गया। इतिहास के पृष्ठों में वह दार्शनिक कवि न होकर एक षड्-यन्त्रशील विद्रोही मात्र रह गया। एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि सिपाही विद्रोह के समय उसकी उम्र ८२ वर्ष की थी। वर्षों से यात्री-गण उसके वार्धक्य और कमज़ोरी का वर्णन करते आ रहे थे। इसके बाद विद्रोही सिपाहियों ने राजमहल को तो लूटा ही, साथ-साथ बादशाह के साथ भी इतना अपमानजनक व्यवहार किया कि उन्हें राजप्रासाद त्याग कुतुब साहब में जाकर एक पीर का जीवन व्यतीत करने की धमकी देनी पड़ी। और तब उन्हीं इतिहासकारों ने उनका उल्लेख एक प्रमुख षड्यन्त्र-कारी एवं गुट बान्धने वाले रूप में किया और गदर रूपी दुःखान्त नाटक के प्रमुख दुष्ट पात्रों में उनकी गणना की। इस तरह के अभियोग परस्पर विरोधी तथा उत्तरकालीन मुग़ल बादशाहों की आलोचनाओं के इतिहास का प्रतीक मात्र हैं। बादशाह अपने राजमहल को यदि पहले की ही तरह रखते तो कहा जाता था कि उसके पास यथेष्ट रुपये हैं, अतएव वृत्ति में कमी करनी चाहिए और यदि वह कम खर्च करते तो कहते कि वह गन्दगी से रहते हैं, बादशाह रूपी संस्था अनावश्यक है, इसे हटा देनी चाहिए। यदि वह पुरानी रीति-रिवाज और मर्यादा को निभाते तो वे निरर्थक थे और यदि परम्परागत ठाट-बाट को त्यागने को प्रस्तुत होते तो बाद-शाह का क़िले में रहना अनावश्यक समझा जाता था। यदि कोई शाह-ज़ादा आलसी और व्यसनी था तो यह मुग़ल बादशाहत की कमज़ोरी प्रमाणित करता था और यदि उसमें चरित्र-बल होता तो वह ख़तरनाक और अविश्वसनीय था। इन आलोचकों के संतोष के लिए बहादुरशाह के लिये आवश्यक था कि वह या तो विद्रोहियों का विरोध करते या वहाँ से भाग खड़े होते। पर यह किसी ने नहीं बताया कि वह किस प्रकार इन दोनों में से किसी भी काम को अंजाम दे पाते। उनके संरक्षक सिपाही तथा परिवार के अधिकांश लोग विद्रोहियों के साथ जा मिले थे। क्या

८० साल का यह वृद्ध उनके विरुद्ध होकर उस राज्य-सत्ता के पुनर्निर्माण के उद्योग का विरोध करता जिसकी वह स्वयं मांग करता आया था ? और यदि वह भागता भी तो कहाँ ? किस तरह वह अस्तित्वरहित अंग्रेज़ी सेना के पास ग्रीष्म ऋतु के मध्य में पहुँच पाता ? शायद छद्म वेश में, दिन में गुफ़ाओं में छिपते हुए तथा रातों में तारों के सहारे, सर जान मैटकाफ़ की भांति, बृटिश छावनी तक वह पहुँच पाता, पर यह छावनी कहाँ तक उसके साथ मैत्री का व्यवहार करती, यह कौन बताये ? बहादुरशाह का चरित्र-निर्माण एव यथार्थ मूल्यांकन उनके समस्त जीवन की घटनाओं के आधार पर करना चाहिए, न कि केवल यात्रियों की ऊपरी बातों तथा तत्कालीन युद्ध से थकित जाति-विद्रोहापन्न, असतुलित दिमाग वाले सिपाहियों के कथन के आधार पर।"

बहादुरशाह के आलोचकों का इससे बढ़िया और मुँहतोड़ जवाब दूसरा न हो सकता था। बहादुरशाह का सारा जीवन ही एक संस्कृति एवं सदाचार का जीवन था। जिस वंश में राजशासन-प्राप्ति के लिए भाई-भाई से लड़ा, पुत्र ने पिता को कैद मे रखा, उसमें जन्म पाकर भी उन्होंने अपने पिता के प्रति बावजूद इसके कि वह उन्हे नही बल्कि अपने दूसरे पुत्र जहाँगीर को गद्दी देना चाहते थे, सदैव प्रेम और आदर के ही भाव रखे। चार्ल्स मैटकाफ़ जो उनके विरोधियों में गिना जाता है, इस सम्बन्ध म लिखता है—"मै यह अवश्य कहूँगा कि उनका आचरण हर तरह से अत्यन्त सराहनीय है। निःसन्देह वह शाहाज़ादों में सब से अधिक आदरणीय, विद्वान एव पितृ-प्रेम योग्य है। यद्यपि पिता का वह प्रेम उन्हें प्राप्त नही हो सका है, फिर भी मैने उन्हे कभी पिता के प्रति उचित सम्मान तथा कर्तव्य भावना से विचलित होते नही पाया। बहादुरशाह उन महापुरुषों में थे जो समय कभी व्यर्थ के कामों में नहीं बिताते। अधिकतर यमुना तटवर्ती अपनी वाटिका में बैठे हुए अध्ययनशील रहते अथवा काव्य-रचना में संलग्न। काव्य-दर्शन, बाग-बगीचे आदि प्रकृति के विभिन्न अंगों से उन्हें खास प्रेम था। स्वभाव के वह शान्ति-प्रिय थे। खुद अपने कलामों में जहाँ तहाँ अपने को "सुलह कुल" शान्तिप्रिय बताया है, जैसे कि "हो सुलह कुल ऐ दिले ! कि सब उठ जाय लड़ाई।" प्रायः प्रति दिन यमुना के किनारे, सुबह-शाम, सैर को जाया करते थे तथा वर्षा-ऋतु

महरोली में बिताते थे । स्वयं दो वाटिकाओं का एक कालिन्दी तट पर, दूसरा सहादरा में, निर्माण किया था । पक्षियों से प्रेम रखते, विशेषकर पंडुकों से जिन्हें वह शान्ति और सुखी जीवन का प्रतीक मानते थे। ईश्वर तथा धर्म में गाढ़ी प्रीति, दृढ़ आस्था थी पर धार्मिक संकीर्णता से बिल्कुल परे थे । डाक्टर चमनलाल नामक एक सफल चिकित्सक दिल्ली में उन दिनों रहा करते थे । उन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया । दरबार के लोग इस बात से बिगड़ उठे, बोले, हुजूर इन्हें फिर कभी किले में आने की इजाज़त न मिले। बादशाह हँसकर रह गये, कहा, चमनलाल के काम को मैं निन्दनीय नहीं समझता । यह उद्‌गार उनके हृदय औदार्य्य का द्योतक है। शराब का कभी स्पर्श नहीं किया पर स्वादिष्ट भोजन के प्रेमी थे, खासकर यदि अच्छे आम पा जाते तो हकीमों के लाख मना करने पर भी उन्हें न छोड़ते। कहते हैं, एक बार अंग्रेज़ रेज़िडेण्ट ने उनके पास कुछ बढ़िया आम भेजे । बादशाह इतना प्रसन्न हुए कि फ़ौरन उसके पास यह स्वरचित शेर लिख भेजे—

अम्ब, ऐ फरज़न्द[1], जो, मेरे लिये मरगूब हैं,
कुछ नहीं करते ज़रर, मेरे लिये खूब हैं।

बड़े आनन्द से इन्हें खाये, पर इसका नतीजा अच्छा न हुआ, उदर पीड़ा जिसके वह पुराने रोगी थे, उभड़ आयी, और वह भी इतनी सख्त कि वह मरते-मरते बचे ।

उनकी अभिरुचि अध्ययन की ओर अधिक होते हुए भी समय-समय पर उन्होंने बहादुरी का अद्‌भुत परिचय दिया था, मसलन हकीम अहसुनुल्ला खाँ को बलवाइयों से बचाते वक्त। यही नहीं, जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने जिस बहादुरी के साथ सारी तकलीफों, आपदाओं, संकटों को फैला वह उनके साहस तथा आत्मिक बल का प्रबल परिचायक है। साहित्य के वह पंडित थे तथा उनका काव्य ज़ौक तथा ग़ालिब से बराबरी करने वाला है। उनका राजत्वकाल का सबसे बड़ा महत्व यह है कि वह

१. अंग्रेज़ रेज़िडेण्टों तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के उच्चाधिकारियों को मुग़ल बादशाह 'फरज़न्द' (२ पुत्र) कह कर ही संबोधित करते थे। इनमें से कुछ ने इसका विरोध भी किया चूँकि यह बादशाह के प्रभुत्व का द्योतक था, पर यह प्रथा जारी रही जब तक कि ग़दर के बाद मुग़ल बादशाह का अन्त न हो गया।

उर्दू साहित्य का स्वर्ण युग था जबकि उर्दू काव्य अपनी पूरी जवानी पर जा पहुँचा तथा काव्य-कानन में ज़ौक़ ग़ालिब और ज़फ़र जैसे पुष्प-रत्न विकसित हुए। अंग्रेज़ी के एक विद्वान लेखक ने यथार्थ ही तत्कालीन दिल्ली की तुलना वाइमर (जर्मनी का एक प्राचीन नगर) से की है, चूँकि वह उन दिनों साहित्य-संस्कृति का केन्द्र-स्थान हो रही थी।

उत्तरकालीन मुग़ल बादशाहों ने यथासाध्य शाही दरबार की रूपरेखा, कायदे-कानून, पूर्ववत् बनाये रखने की चेष्ठा की—वैसी जैसी की अकबर अथवा शाहजहाँ के ज़माने में थी, उसी तरह दरबारियों का खड़ा होना, बादशाह के आने पर झुकना, सलाम करना, आदि जारी रक्खा और इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी बहुत हद तक इसमें वे कामयाब रहे। क़िले में अब भी प्राचीन काल सा ही दरबार लगता तथा लोग बादशाह को नज़र दिया करते। बादशाह भी उन्हें पूर्ववत् खिल्लत प्रदान करते थे। पर ये दरबार 'दीवाने-आम' में नहीं, 'दीवाने खास' में हुआ करते और 'दीवाने-आम' अब उजाड़-सा हो रहा था। शाही दरबार के भीतरी हिस्सों में जिन्हें जाने की अनुमति थी वे "लाल-परदारी" के नाम से पुकारे जाते थे, चूंकि लाल परदे के अन्दर वे स्वच्छन्दता-पूर्वक आ-जा सकते थे।

क़िले में मुसलमान त्योहारों के साथ-साथ हिन्दू त्योहार भी बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते थे, होली, दिवाली आदि और बादशाह स्वयं इनमें हिस्सा लेते थे। काश! हमारे आधुनिक मुसलिम दोस्त इनका अनुकरण करते—धार्मिक संकीर्णता हृदय में न आने देते--तो इस देश की रूपरेखा ही आज कुछ और होती, दोनों जातियाँ अमन-चैन से रहतीं। धूम-धाम से मानाये जाने वाले त्योहारों में "ग़ुस्ले-सेहत" एक विशिष्ट त्योहार था। जब बादशाह या शाही परिवार का कोई आरोग्य-लाभ करता और प्रथम बार स्नान करता तो यह त्योहार मनाया जाता। इसी तरह चन्द्र और सूर्य ग्रहण के दिन भी क़िले में सभी स्नान-पूजा करते थे।

भारत सरकार के राजनैतिक एवं पारदेशिक विभाग के दफ़्तर में ग़दर के पहले की कुछ पुलिस की रिपोर्टें तथा डायरियाँ सुरक्षित हैं जिनसे तत्कालीन मुग़ल बादशाह और क़िले के दैनिक जीवन का पता

चलता है। ऐसी ही एक डायरी के कुछ पृष्ठ बादशाह (बहादुर शाह ज़फ़र) की दिन-चर्य्या से सम्बन्धित देखें। ये उस समय की हैं जबकि उनकी उम्र ७८ साल की हो चुकी हुई थी।

सोमवार, २८ अप्रैल, १८५१—हकीम अहसुनुल्ला खाँ ने बादशाह की नब्ज देखी और फर्माया कि वह बहुत कमजोर हो गये हैं—कहा कि अभी कुछ दिनों तक वह किसी दवा का सेवन न करें। बादशाह ने फर्माया कि उनका भी यही ख्याल है। मिर्ज़ा कास शिकोह को भेजी हुई एक अर्ज़ी मिली जिसमें उन्होंने बादशाह सलामत से प्रार्थना की है कि वह वंशीधर इत्र फरोश के जुर्म की माफ़ी दें। बादशाह सलामत इस पर बहुत नाराज़ हुए और हुक्म दिया कि वह जेलखाने में डाल दिया जाय। ४ बजे शाम के वक्त बादशाह सलामत ने कुदसिया बाग़ में चहलकदमी की। मौलवो अज़ीजुद्दीन मरहूम के लड़कों को शोक सम्बन्धी खि़ल्लत प्रदान किये गये।

मंगलवार, २९ अप्रैल—बादशाह सलामत नदी के पार शिकार को गए। हुशैन मिर्ज़ा नज़ीर ने खबर दी कि सहर के किसी धोबी के दो लडके महल मे पाए गए हैं। वंशीधर इत्र फरोश पाँच सौ रुपये जुर्माना देने पर जेल से रिहा कर दिया गया।

चार बजे बादशाह पुनः नदी के पार शिकार को गए। हकीम अहसनुल्ला खाँ की एक अर्ज़ी मिली कि वह अस्वस्थता के कारण बादशाह सलामत को देखने न आ सके। महबूब अली खाँ को हुक्म मिला कि वह मौलवी फखरूद्दीन के मज़ार पर चढ़ावा के लिए काला साहिब पीरजादा को दौ सौ रुपये भेजें और उन्हें ताकीद भेजें कि वह बादशाह मरहूम मुहम्मद अकबर शाह की कब्र पर सालाना चढ़ाई चढ़ायें।

बुधवार, ३० अप्रैल—बादशाह सलामत शिकार को नदी के पार गए। खबर मिली कि असरफ अली खाँ जब हाथी पर सवार पुल के रास्ते से लौट रहे थे तो एक तख्ता टूट गया तथा हाथी का एक पाँव नीचे धसा जिसकी वजह से वह नीचे गिर पड़े और सख्त चोट खाए। उनकी खबर लाने को एक सन्देशवाहक भेजा गया। मिर्ज़ा जीवन बख्त तथा उनके संग महबूब अली खाँ ने बादशाह से फुर्सत लेकर कुतुब के लिए मौलवी फखरुद्दीन तथा बादशाह अकबर शाह की कब्रों पर

चढ़ावा देने को प्रस्थान किया।

चार बजे शाम को अपने अपने मुर्गे लेकर कई सलातीन बादशाह के सामने मुर्गे लड़ाने को उपस्थित हुए।

बृहस्पतिवार, १ मई—बादशाह सलामत नदी के पार शिकार को गए। मिर्ज़ा जीवन बख़्त और महबूब अली खाँ कुतुब से लौटे और कहा, कि वे मौलवी फख़रुद्दीन तथा अकबर शाह बादशाह की कब्रों पर वार्षिक चढ़ावा चढ़ा आए हैं। खबर आयी कि सहर के दौलताबादी मकान में रहने वाली मिर्ज़ा फ़खरुद्दीन की औरतों को किसी ने पिछली रात लूटा है।

४ बजे शाम को खबर आई कि बादशाह का पिछले महीने का एलावेंस आया है। महबूब अली खाँ को हुक्म मिला कि वह उन्हें हमेशा की तरह बाँट दें।

कई सलातीन अपने-अपने मुर्गे लेकर बादशाह सलामत के मनोरंजनार्थ मुर्गे की लड़ाई दिखाने राजप्रासाद के सामने आ उपस्थित हुए।

शुक्रवार, २ मई—बादशाह सलामत शिकार को नदी पार गए। शिकारी कुछ हिरण का गोश्त लाये, इसका एक हिस्सा अहमद कुली खाँ के पास प्रेषित हुआ।

४ बजे महबूब अली खाँ ने आकर कहा, कि उन्होंने पिछले महीने के वेतन बाँट दिए हैं। शाम के समय बादशाह सलामत पुनः नदी के पार आखेट को गए। मिर्ज़ा वली सुलतान और मिर्ज़ा हाजी सलातीनों ने शिकायत की कि उन्हें पिछले महीने की वित्ति नहीं मिली है। हुशैन मिर्ज़ा नाज़िर ने कहा कि जिस दिन बादशाह सलामत मिर्ज़ा अब्बास शिकोह के घर पधारे थे, ये दोनों सलातोन लोगों के सामने नशे की हालत में आए और अशिष्ट तरीके से बातें कीं। पहले भी कई बार राजप्रासाद के भीतर ये इस तरह का आचरण कर चुके हैं। इसी कारण से इनके एलावेंस रोक लिए गए हैं। बादशाह ने फर्माया कि जब तक ये अपनी आदत न सुधार लें, इनके एलावेंस रुके रहें, और कहा कि शराब उन्हीं को पीना चाहिए जो अपने ऊपर नियंत्रण रख सकें, जो ज्यादा पी जाते हैं, उन्हें हर्गिज़ नहीं। बाबू सूरी नारायण सिंह की एक अर्ज़ी आयी जिसमें उन्होंने अपने भाई के मरने की खबर मिली है। बादशाह ने दफ़्तर

को हुक्म दिया कि वह लिख लें कि यह बादशाह के राजत्व का १५वाँ वर्ष है।

शनिवार, ३ मई—बादशाह सलामत ने नदी के पार शिकार किया और लौट कर एजेन्ट के पास एक शुक्का भेजा।

४ बजे शाम को बादशाह के पास मिर्ज़ा वली सुलतान तथा मिर्ज़ा हाजी की अर्जियाँ पहुँचीं जिनमें उन्होंने माफ़ी माँगी है तथा अपनी वृत्ति के लिए प्रार्थना की है। बादशाह सलामत ने फर्माया कि उन्हें दंडित करना आवश्यक है ताकि शराबखोरी को बुराई वे महसूस कर सकें।

रविवार, ४ मई—बादशाह सलामत ने नदी को पार किया और थोड़ा-सा ही शिकार के बाद वापस आए। एजेन्सी के जमादार ने पटना से आए हुए अफ़ीम के दो बक्स लाए तथा एजेन्सी के वकील कुछ काल बादशाह से खानगी बातें कर चले गए। अहमद कुली खाँ आए और शाहज़ादा मिर्ज़ा जीवन बख़्त की मालागढ़ के मुहम्मद खाँ की लड़की के साथ शादी की बातें की। एक बनिए ने आकर शिकायत की, कि वंशीधर के खिलाफ अदालत से उसे १००) रुपये की डिगरी मिल गयी है तथापि शाही अफ़सरान मुद्दालह का मकान बेच कर डिगरी को सफलीभूत नहीं होने दे रहे हैं। महबूब अली खाँ तथा हकीम अहसनुल्ला खाँ को हुक्म हुआ कि वे फौरन इसका प्रबन्ध करें ताकि मुद्दई को पूरा संतोष प्राप्त हो।

४ बजे हकीम अहसनुल्ला खाँ आए और बादशाह सलामत के पास कुछ कागज़ात दाखिल कर, चले गए।

उर्पयुक्त लिखावटों—दैनन्दिनी की अवतरणों—से पता चलेगा कि दिल्ली के अन्तिम बादशाह के दिन किस प्रकार कटते थे। उक्त डायरी के कुछ और पृष्ठ देखें—

२३ अप्रैल—बादशाह सलामत ने रात में दीवाने-खास की सहन में मिर्ज़ा कास शिकोह की शादी के अवसर पर नाच तथा आतिशबाज़ियों का निरीक्षण किया।

२४ अप्रैल—लाल पर्दे का एक दरबारी आज बादशाह सलामत से बैत[1] हुआ।

---

१. दीक्षित।

२५ अप्रैल—बादशाह सलामत आज मिर्ज़ा अब्बास शिकोह के घर पर तशरीफ ले गए । रास्ते में शाही नौकर अपने-अपने घर के सामने 'नज़र' दाखिल किए ।......मिर्जा अब्बास शिकोह ने दरवाज़े से—जहाँ बादशाह सलामत सवारी से उतरे—घर तक गलीचे बिछा रक्खे थे । बादशाह के उन पर से चले जाने के बाद नौकरों ने उन्हे बतौर बखशीश के बाँट लिए । मिर्ज़ा ने ११ तश्तरी पशमीना बादशाह को भेंट दी और बताया कि जिन दिनों राजप्रासाद निर्मित हो रहा था, बादशाह शाहजहाँ ने इसी मकान में कयाम रक्खा था ।

६ मई—खुलुकदाद खाँ वलायती ने बादशाह सलामत को "बैद मुश्क" की दो बोतलें भेंट दी और कहा कि उन्होंने चालीस रुपयों में इन्हें खरीदा है । बादशाह को ये पसन्द न आयी और इन्हे लौटा दिए । वलायती खुद दोनों बोतलें पी गए और कहा कि इनकी कीमत उनके मोशाहरे से काट ली जाए । बादशाह सलामत को यह पसन्द न आया और आज्ञा दी कि उन्हें नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाय ।

१२ मई—खबर मिली है कि मिर्ज़ा कास शिकोह के पुत्र मिर्ज़ा कलाँ, उम्र १७ साल, आज यमुना में मछली मार रहे थे जबकि घड़ियाल ने उन्हें पकड़ा और खीच कर जल में ले गया । बादशाह इससे बड़े दुःखी है ।

२२ अगस्त—खबर मिली है कि दो (अंग्रेज) बग्गी पर कुतुब जा रहे थे जबकि एक शाही हाथी दिल्ली को लौट रहा था । घोड़ा हाथी देखकर भड़क गया तथा गाड़ी को एक गढ्ढे में उलट दिया, वे कूद गए, उन्हें ज़रा भी चोट न आयी, पर बहुत नाराज़ हुए । बादशाह सलामत इसे सुनकर क्रोधित हुए, बोले, हमने कितनी बार सख्त हुक्म दिया कि महावत हाथियों को शरीफों की गाड़ियों के पास न ले जायें फिर भी वे नहीं सुनते, हाथियों के दारोगा के पास पुनः ताकीद भेजने की आज्ञा हुई और दोषी को तुब, ताकि उसे उचित दंड दिया जा सके ।

२५ दिसम्बर—बादशाह सलामत नदी के पार गए और थोड़ी देर शिकार खेल कर लौट आए । जौक़ (शायर) ने स्व-रचित कुछ कविताएँ बादशाह को सुनायीं । बदले में बादशाह सलामत ने भी अपने

रचे हुए कुछ क़लाम उन्हें सुनाए।*

३० जून, १८५२—ज्योतिषी सुखानन्द ने बादशाह सलामत से अर्ज़ किया कि बृहस्पतिवार को चन्द्र ग्रहण लगेगा........बादशाह ने हुक्म दिया कि इस अवसर के लिए (तुलादानार्थ) तौलने का यन्त्रादि पहले से ही मंगा लिए जाएँ।

२ जुलाई—बादशाह सलामत ने सात प्रकार के नाज, मक्खन, सुवर्ण, मूँगा आदि से अपनों को तोला और इन्हें गरीबों को बंटवा दिए। नूरगढ़ से बादशाह सलामत ने नदी के बढ़े हुए जल का निरीक्षण किया।

४ जुलाई—बादशाह सलामल के पास खबर पहुँची है कि एक फिरंगी जुम्मा मस्जिद देखने आया तथा मना करने पर भी मीनार दरवाजे का ताला तोड़कर छत पर चढ़ गया।

इसी प्रकार की अनेक मनोरंजक बातें इस डयरी के पृष्ठों में लिखी हैं, जिन से मुग़ल-वंश के आखिरी चिराग़ बादशाह ज़फ़र के दैनिक जीवन का पता लगता है, बहादुर शाह के सम्बन्ध में जो ग़लतफहमियाँ, भ्रातिन्याँ फैली हुई हैं उनका निराकरण भी होता है। इनसे यह साफ ज़ाहिर होता है कि वह अन्य मुग़ल बादशाहों की भाँति ऐशो-आराम, भोग-विलास में अपना समय नहीं बिताते थे, वरन् शिकार, शायरी, भगवद्-अर्चना आदि में लगे होते थे। सुरापान के वह घोर विरोधी थे यह "शुक्रवार २ मई" की घटना तथा उसके दूसरे दिन अर्थात् ३ मई की शाही आज्ञा से साफ़-साफ़ परिलक्षित है।

क़िले के भीतर इसी भाँति जीवन-यापन कर रहे थे, बाहर अंग्रेज़ों का शासन चल रहा था। काफी संख्या में अंग्रेज़ दिल्ली में आ जमे थे, अंग्रेज़ी पढ़ाने वाले विद्यालय खुल चुके थे, चर्चे बन गयी थीं तथा धीरे-धीरे ईसाइ धर्म का प्रचार हो रहा था। डाक्टर चमनलाल (कायस्थ) तथा रामचन्द्र (ब्राह्मण) दो प्रमुख व्यक्तियों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था—एक एसिसटेन्ट सर्जन थे और बादशाह के चिकित्सक भी,

---

*जो कहते हैं कि 'ज़फ़र' के क़लाम ज़ौक़ और ग़ालिब के लिखे हुए हैं वे इस पर ध्यान दें।

दूसरे दिल्ली कालेज में गणित के अध्यापक।

ऐंग्लो इंडियन, यूरोपियन आदि की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। लोग अंग्रेज़ी रसन, सहन, लिबास-पोशाक की (नक़ल)भी करने लगे थे। बादशाह अकबर सानी के द्वितिय पुत्र अंग्रेज़ी पोशाक पहनते तथा दीवाने-आम के पृष्ठ भाग में उन्होंने एक अंग्रेज़ी ढंग का मकान भी बनवाया था। छः घोड़ों के लैण्डी पर वह सैर को निकला करते थे। मेजर आर्चर नामक एक अंग्रेज़ यात्री ने लिखा है—

The youngest but one affects the manners and habits of Europeans and is constantly betraying his absurdity by his want of reflection; for instance, when he set up an english coach, he insisted that the coachman should not sit above himself...... He is constantly driving about in a coach-and-six with a horseman carrying his pipe by the side of it; carriage, horses, and all, are often seen in a ditch, of which there are many both wide and deep, in the outskirts of the town.

शाहज़ादे की एक पुत्री ने गार्डनर नामक लार्ड-वंश के एक अंग्रेज़ के साथ विवाह कर लिया। इनके वंशज आज भी मौजूद हैं।

दिल्ली के आस-पास के इलाकों में जहाँ पहले मुग़लों की सल्तनत थी, बहुतरे छोटे-छोटे सामन्तों ने अड्डे बना लिये थे और स्वतन्त्र शासक का रूप धारण कर लिया था, फ्रांसीसी अलीगढ़ में, बेगम समरू†—जो पहले मुस्लिम वेश्या की पुत्री थी, पीछे एक जर्मन से विवाह कर ईसाई हो गयी—मेरठ के पास सरधाना में, जार्ज थामस हाँसी में। दिल्ली की राजनीति में ये काफी हिस्सा भी बटाने लगे थे। उत्तर में सिक्खों का दल लूट-पाट में लगा हुआ था। नतीजा यह था कि मुग़ल सम्राज्य का बनाया हुआ शासन का सारा सिलसिला समाप्त था—परगना, सरकार, सूबा, सभी ग़ायब हो चुके थे। ईरानी, तूरानी अफगान, मराठा, सिख, अंग्रेज़, फ्रांसीसी—इन सबों ने समय-समय पर आक्रमण कर, लड़ाडियाँ लड़, इस क्षेत्र के सारे शासन सूत्र तोड़ डाले थे। पर बावजूद इस अनिश्चित परिस्थिति के भी इन इलाकों के ग्रामों का प्राचीन संगठन ज्यों-का-त्यों

† देखिये परिषिष्ट (३)

सुरक्षित था। उनमें ढिलाई न आ पायी थी। ये एक प्रकार से छोटे-छोटे प्रजातंत्र थे, जो अपनी रक्षा का आप ही प्रबन्ध कर रहे थे। दिल्ली का प्रसिद्ध रेजिडेन्ट मेटकाफ इनके सम्बन्ध में लिखता है—

The village Communities are little Republics, having nearly everything they want within themselves, and almost independent of any foreign relations. They seem to last where nothing else lasts. Dynasty after dynasty tumbles down; revolution succeeds to revolution; Hindu, Pathan, Mughul, Mahratta, Sikh, English, are masters in turn; but the village communities remain the same. In times of trouble they arm and fortify themselves; a hostile army passes through the country; the village community collect their cattle within their walls, and let the army pass unprovoked; if plunder and devastation be directed against themselves and the forced employed be irresistable, they flee to friendly villages at a distance, but when the storm has passed over, they return and resume their occupation.

सारांश यह कि ये ग्रामीण समुदाय छोटे-छोटे प्रजतंत्रों के समान हैं और हमेशा से ऐसे ही रहे हैं। एक के बाद दूसरे, इस तरह अनेकों राजवंश आते और जाते हैं, हिन्दू, पाठान, सिक्ख, मुग़ल, मराठा, अंग्रेज, एक-एक कर शासन बनते और बिगड़ते हैं, पर ये ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं, आक्रमणकारियों की सेनाएँ आयीं-गयीं, ये कुछ न बोलते। यदि इन्होंने बजाय इसके कि चुपचाप चले जायँ, इन्हें लूटा-पाटा तो ये निकल कर अड़ौस-पड़ौस के गांवों में चले गये और फिर शान्ति स्थापित होते ही जहाँ के तहाँ लौट आये। सदियों से इनकी यही प्रणाली रही है।

केन्द्रीय सरकार यदि बलवान रही तो ये शान्ति से रहे, यदि कमज़ोर पड़ गयी तो बारम्बार खतरों का सामना करना पड़ा।

सरकारी पदाधिकारी जब कभी गये तो इनसे पैसे गाँठने की कोशिश की। यह उनकी शान्ति-भंग का पहला मौका होता। दूसरा अवसर लुटेरों के गांव में आ जाने पर था। ये लुटेरे भी दो प्रकार के थे—एक मराठे, अफगान, सिख, जाट जैसे दूसरे वे जो पेशेवर थे। इनसे बचने को ये सुरक्षा दल कायम करते तथा गांव की चारों और मिट्टी की ऊची दिवारें खड़ा कर बारी-बारी से उस पर बैठ पहरा देते थे। सौभाग्य से यदि आस-पास में कोई प्राचीन गैर-आबाद मकान, किसी अस्तंगत सामन्त का त्यागा हुआ

बाग़-बगीचा, भवन अथवा वीरान सराय या मस्जिद मिल गयी तो सारा का सारा गाँव वहीं जाकर बस रहा। उथल-पुथल के उस ज़माने में दिल्ली सूबे के ग्रामों की, संक्षेप में यही स्थिति थी। जिन सामन्तों का ऊपर ज़िक्र किया गया है वे काफी बलवान थे तथा इनमें हिन्दुस्तानी भी थे, विदेशी भी। केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के टूट जाने से उन्हें सामन्त शाही क़ायम करने का मौक़ा मिला, छोटे-छोटे क़िले बनाकर स्वतन्त्र शासक की भाँति रहने लगे थे। बादशाह के ऊपर जब कोई विपत्ति आती तो वह इनकी मदद लिया करते थे। उदाहरणार्थ, बेगम समरू से शाह आलम ने सैनिक सहायता गुलाम क़ादिर के खिलाफ़ प्राप्त की। पर इनकी सामन्त शाही स्थायो नहीं होती, शक्तिशाली पुरुप या नारी के मरते ही वह समाप्त हो जाती थी।

रिआया मालगुज़ारी देने से एक प्रकार से स्वतन्त्र हो चली थी। बादशाह का कोई कारिन्दा गया, कर मांगा, इच्छा हुई, दिया, न इच्छा हुई, न दिया—आम तौर पर यही स्थिति थी, कर-प्रदान की उनकी बाध्यता समाप्तप्राय थी। शासन का उनके ऊपर कोई नियंत्रण न रहा।

यही स्थिति थी जब कि हिन्दोस्तान के कई हिस्सों में ५७ की क्रान्ति की आग भड़क उठी। बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र ने इसमें हिस्सा बटाया पर विधाता वाम थे, असफल रहे और अंत में उन्हें रंगून के कैदखाने में जीवन के बाक़ी दिन बिताने पड़े। मुग़ल साम्राज्य का सूर्य यहीं अस्त हुआ।
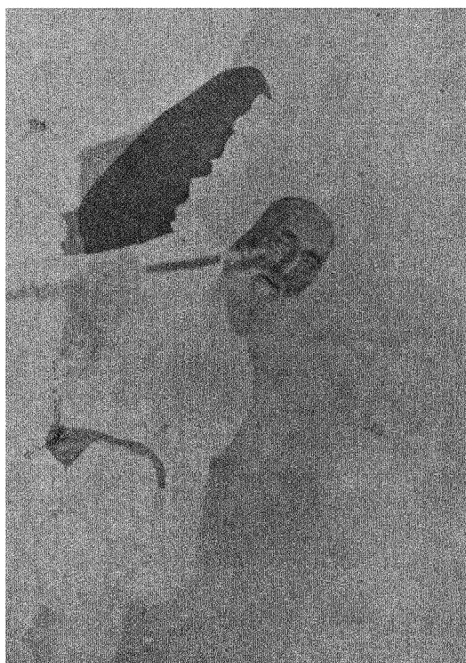
रंगून कैदखाना मे--ज़फ़र, मृत्युशैय्या पर।

परिशिष्ट १

हेनरी डिरोजियो

कलकत्ते के ऐंग्लो-इंडियन कवि हेनरी डिरोजियो का नाम साहित्य संसार में भूल-सा गया था, पर यह बड़े ही आनन्द का विषय है कि आज से कुछ वर्ष पहले कलकत्ते के कुछ साहित्य-सेवियों ने उक्त कवि की जयन्ती मना कर इस भूले हुए कवि की याद फिर से दिला दी। कीट्स, बायरन, शेली आदि कवियों की तरह हेनरी डिरोजियो भी किशोरावस्था में ही इस संसार से चल बसा था। पर इस छोटे-से जीवन में ही उसने जैसी भावपूर्ण और मधुर कविताओं की रचना की, वैसी संसार के इने-गिने कवियों ने ही की होंगी। अफ़सोस, उसकी रुचिर कविताओं का प्रचार साहित्य-संसार में, कीट्स, बायरन, शेली आदि समवयस्क कवियों की कृति की तरह आज नहीं है। पर विसमृति की गोद में जाकर भी वह सोना ही है। पूर्वोक्त कवियों में डिरोजियो की समानता औरों की अपेक्षा बायरन से ही अधिक थी। वह बायरन की कविताओं का परम भक्त था, उसकी अनेक कविताओं पर बायरन की छाप साफ-माफ परिलक्षित है। बायरन की ही तरह वह स्वन्तत्रता का प्रबल समर्थक था। ऐंग्लो-इंडियन होकर भी अपनी कविताओं में देश की, यानी भारत की, परतन्त्रता पर जो उसने आँसू बहाए हैं, वे दिल पर पूरी तरह असर करते हैं। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रसिद्ध भारतीय प्रोफेसर मिस्टर शेषाद्रि ने, बहुत दिन हुए, अपनी एक छोटी-सी पुस्तक में डिरोजियो की एक कविता को, जो उसने देश की दशा पर आँसू बहाते हुए लिखी है, उद्धत किया था। उसकी अंतिम पंक्ति जो उसने परतंत्र होने पर लिखी है, आज भी हमारे कानों में बार-बार गूँज रही है। अवश्य ही वह उन ऐंग्लो-इंडियनो में न था जो भूठे पर लगा कर हंस बनने की चेष्टा करते हैं। वह अपने को भारतीय ही समझता रहा।

डिरोजियो का जन्म कलकत्ते के लोअर सर्कुलर रोड के एक छोटे से मकान में, १८०९ ई० में, हुआ था। डिरोजियो-परिवार कलकत्ते में कब

और कैसे आकर बसा, इसका ठीक-ठीक पता नहीं मिलता । सन् १७९५ की बंगाल-डायरेक्ट्री में हेनरी डिरोजियो के पितामह के सम्बन्ध में सिर्फ इतना लिखा है कि वह एक 'पोर्टगीज व्यापारी और एजेंट' था । सर्कुलर रोड के जिस मकान में डिरोजियो का जन्म हुआ था, वह स्वंय तो टूट ही चुका है, पर जिस स्थान पर वह खड़ा था, उसकी भी आज काया पलट चुकी है । डिरोजियो-परिवार अथवा उसकी याद दिलाने वाली चीज़ों का कलकत्ते से नामोनिशान मिट चुका है। हेनरी डिरोजियो के सम्बन्ध में बहुत वर्ष पहले किसी साहित्य-प्रेमी ने कुछ बातों का पता लगाया था, और उसकी एक छोटी-सी जीवनी भी प्रकाशित की थी । पर खेद है कि आज वह स्वयं विस्मृति की गोद में जा पड़ी है । उसकी एक कापी भी किसी पुस्तक-विक्रेता के पास प्राप्य नहीं । डिरोजियो ने अपने जीवन के कई वर्ष बिहार में, भागलपुर में, बिताए थे । भागलपुर में, गंगा के तट पर, एक नील की कोठी थी । वहीं वह रहा करता था । कोठी के पास ही एक पत्थर की शिला थी, जिस पर गंगा की तरंगें आकर हिलोरें मारा करती थीं । वहीं, उस शून्य चट्टान पर, वह घंटों प्रकृति की उपासना किया करता था । गंगा के वक्षःस्थल पर की प्रबल तरंगों और शून्य आकाश की ओर देखा करता था । कुछ ही दिनों में उसके भावुक हृदय में कवित्व का बीज-वपन हुआ, और वह कविता करने लगा । एक योगी की ओर, जो प्रतिदिन गंगा में नहाने आया करता था, उसका ध्यान आकर्षित हुआ । उस योगी पर उसने एक कविता लिखी, जो बड़ी ही सुन्दर है, श्रेष्ठ है ।

भागलपुर में वह अधिक दिनों तक न ठहर सका। उसे शीघ्र ही कलकत्ते लौट आना पड़ा । कलकत्ते आकर उसने अपनी कविताओं का संग्रह छपवाया, जिसका कुछ ही दिनों में खूब खपत हुई । यद्यपि उसकी उमर उस समय सिर्फ अठारह वर्ष की थी, तथापि कलकत्ते के तत्कालीन साहित्याकाश में उसकी यशोधवलिमा कुछ ऐसी फैली कि कुछ ही दिनों में वह वहाँ के अंग्रेज़ी-साहित्य-मंडल का नेता बन बैठा । कुछ दिनों तक उसने अख़बारनवीसी भी की, पर उसमें उसका जी न लगा । शीघ्र ही कलकत्ते के हिन्दू-कालेज में जो आज प्रेसीडेंसी कालेज के नाम से विख्यातों है—उसे जगह मिल गई ।

हिन्दोस्तान में उन दिनों अंग्रेज़ी का चलन न था। कोई योग्य पढ़ाने

वाला भी न था। अंग्रेज़ी की शिक्षा पादरियों के हाथ थी, जो हिन्दुओं से घृणा करते थे। पढ़ाने में उन्हें उत्साह न था, हिन्दुओं की ज्ञान-पिपासा बढ़े अथवा उसकी परितुष्टि हो, इसकी उन्हें आकांक्षा न थी। परिणाम यह था कि इच्छा रहते भी वे पाश्चात्य विद्या की बारीकियों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। पर डिरोजियो ने हिन्दू-कालेज में अध्यापक होते ही बड़े उत्साह के साथ उन्हें हार्दिक प्रोत्साहन देने लगा। कुछ ही दिनों में हिन्दू-कालेज के छात्रों की संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। पर डिरोजियो का पाश्चात्य-विद्या की शिक्षा देना, नवयुवकों के हृदय में धार्मिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता के भाव उत्पन्न कर, विश्वास पर तर्क अथवा विवेक की श्रेष्ठता दिखलाना, तत्कालीन पंडितों तथा मौलवियों को अच्छा न लगा, वे घबरा उठे। सबों ने एक साथ आवाज उठाई "हिन्दु-कालेज से डिरोजियो बहिष्कृत किया जाय"। कालेज के कुछ और प्रोफेसर, जो उसकी लोकप्रियता के द्वेषी थे, उनके साथ हो लिए। फिर क्या था, उस पर तरह-तरह के लांछन लगाए गए, जिन पर विश्वास करना भी मुश्किल था। अनुसंधान हुआ, अंत में सारी बातें झूठी साबित हुईं। पर कालेज के अधिकारियों ने डिरोजियो को कालेज से हटाना ही उचित समझा, अतएव उन्होंने उसे इस्तीफा दाखिल करने को मजबूर किया। हिन्दू-कालेज से उसका सम्बन्धविच्छेद हो गया, पर उसने घर पर ही अध्यापन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। छात्र समूह पूर्ववत् उमड़ने लगा। विधाता वाम थे, उन्हें यह देखना मन्जूर न हुआ। शहर में महामारी फैल रही थी, हेनरी डिरोजियो भी उसके चंगुल में आ पड़ा। २३ वर्ष की उमर में वह संसार से चलता बना। उसका घर जोकि साँस्कृतिक केन्द्र हो रहा था तथा जहाँ विचार स्वातन्त्र के हिमायती, ज्ञानपिपासु, राममोहनराय, उमाचरण बोस, डेविड हेयर, महेशचन्द्र घोष तथा दक्षिणारंजन मुखर्जी जैसे लोगों की हर शाम जमघट हुआ करती थी, वह उजाड़ हो गया। शायद ऐसी ही दिवंगत प्रतिभाओं के सम्बन्ध में 'चकवस्त' ने कहा था—

फूल तो दो दिन बहारे जा फिजाँ दिखला गये,
हसरत उन गुंचों पे है जो बिन खिले मुरझा गये।

अब भारत की अधोगति पर लिखे हुए उसके दो सानेट देखें।

भारत, अपनी मातृभूमि के प्रति

हे स्वदेश ! तेरी सुख्याति के विगत दिनों में,
तेजपुंज पावन ललाट के वृत्ताकार था।
तेरे, देव-समान अहो, पूजित था तू तब !
कहाँ गए पर हा ! प्रताप, सम्मान, कीर्ति वे ?
गरुड़-पंख तेरे जंजीरों में बन्धकर हैं,
पड़ा हुआ है भूमि भाग पर तू दीनों-सा:
चारण तेरे कौन हार गूंथे हित तेरे
दुःखों की बस करुण-कथा ही शेषमात्र है।
काल-सिन्धु के किन्तु गर्भ में डूबूं मैं प्रिय,
और युगों से जो प्रवाह-गत हुए आज हैं,
दिव्य ध्वंस के लाऊँ टुकड़े मैं थोड़े से
जिन्हें न मानव-दृष्टि हाय, अब फिर लख पाए;
पुरस्कार मेरे इस श्रम का होए केवल
हे स्वदेश अवनत मन, तेरी कृपा-कोर इक।

भारत की वीणा

एकाकी क्यों टंगा सखे, तू शुष्क डाल पर ?
तारहीन, शाश्वत-सा, कब तक यहीं टंगेगा;
था अति मृदुल संगीत कभी, अब सुने कौन वह ?
त्याग रहा निःश्वास व्यर्थ क्यों पवन शोक से ?
सांघातिक जंजीरों में तू बंधा शांति के ;
शांत, उपेक्षित, एकाकी हा, हुआ आज है,
ध्वंसप्राप्त हो ज्यों समाधि मरुथल में कोई:
मम हाथों से कहीं श्रेष्टतर दिया करोंने
सामंजस्ययुक्त तारों को अति मधुराई,
और ख्याति ने गायक की समाधि पुष्पों से
उन तारों के लिए बनाए हार अनेकों:
ठंढे हैं वे हाथ किन्तु यदि स्वर्गिक वे स्वर
पुनः जगाए जा सकते नश्वर के द्वारा,
तो स्वदेश की वीणा ! झंकृत तुझे करूं मैं।

परिशिष्ट (२)

राजा धाव का सुप्रसिद्ध लोहे स्तम्भ (लोहे की कीली) तथा कुतुब मोनार

ये दोनों दिल्ली की विख्यात वस्तुएँ हैं तथा इन्हें देखने दूर-दूर से लोग ग्राते हैं। कुछ मास हुए इनके इतिहास से सम्बन्धित एक खोज-पूर्ण लेख दैनिक "हिन्दुस्तान" में प्रकाशित हुग्रा था। वह ज्यों-का-त्यों नीचे उद्घृत है—

इसी लोहे की लाट पर से दिल्ली के नामकरण संस्कार का पता चलता है। कहते है कि जब महाराज ग्रनंगपाल ने ग्रपनी राजधानी बनाई तो इस कीली को मंदिरों के बीच के स्थान में गड़वाया। लाट पर ग्रनंगपाल का जो बेलानदेव के नाम से विख्यात था ग्रौर तोमर वश का था, नाम खुदा हुग्रा है ग्रौर विक्रमी संवत ११०६ दिया हुग्रा है, जो ईस्वी संवत १०५२ होता है। कथा है कि किसी ब्राह्मण ने वचन दिया था कि इस स्तम्भ को यदि ठीक तरह शेषनाग के सर पर मजबूती से गाड़ दिया जाएगा तो जिस तरह यह स्तम्भ ग्रटल रहेगा, उसका राज्य भी ग्रटल रहेगा। स्तम्भ को गाड़ दिया गया; मगर, राजा को विश्वास नही हुग्रा कि वह शेषनाग के सर पर पहुँच गया है। उसने कीली को उखड़वाकर देखा ग्रौर उसके ग्राश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उसने यह देखा कि कीली का निचला सिरा खून से भरा था, जो शेषनाग का था। राजा घबरा गया। उसने कीली को फिर से उसी तरह गाड़ाने को कहा, मगर, वह पहले की तरह मजबूती के साथ गड़ न सकी, ढीली रह गई। इसका यह दोहा विख्यात है—

"कीली तो ढीली भई, तोमर भया मतिहीन"

इसी ढीली पर से कालान्तर में दिल्ली नाम पड़ गया। कवि चन्द्र-बरदाई ने भी पृथ्वीराज रासो में इस घटना का उल्लेख करते हुए कीली ढीली की कथा लिख डाली है। रियासत ग्वालियर का खरग भाट इस

घटना का वर्ष ईस्वी सन् ७३६ देता है। चंद कवि के अनुसार अनंगपाल द्वितीय ने व्यास से अपने पोते की पैदायश का मुहुर्त दिखया था। व्यास ने कहा कि मुहुर्त बहुत शुभ है। उसके राज्य को कोई भय नहीं होगा; क्योंकि उसके राज्य की जड़ शेषनाग के फण तक पहुँची हुई है। राजा को उसकी बात का विश्वास नहीं हुआ, तब व्यास ने लोहे की एक सलाख ली और साठ ऊंगल उसे जमीन में गाड़ा और वह शेपनाग के फण तक पहुँच गई और बाहर निकालकर राजा को दिखाया तो उसके निचले सिरे पर खून लगा हुआ था। ब्राह्मण ने कहा कि चूंकि राजा ने उसकी बात पर यकीन नहीं किया इसलिए उसका राज सलाख की तरह डगमगा गया है और यह कहा—

"व्यास जग जोती (जोतषी) यो बोला, यह बातें होने वाली हैं
तोमर तब चौहान और थोड़े दिनों में तुरक पठानें।"

यह भी सम्भव है कि चूंकि यह स्थान जहाँ कीली गाड़ी गई, पूर्व काल में खांडव बन का भाग था और यहाँ नाग वंश वाले रहते थे। यहाँ शेषनाग नाम को कोई शिला हो जिस पर कीली गाड़ी गई हो या यहाँ फिर साँप बढ़ गए हों और उनका राजा शेषनाग वहाँ रहता हो। इस स्थान को इन्द्र का शाप तो था ही, इसलिए कीली ढीली रह गई हो, यह भी सम्भव है।

चंद कवि का यह भी कहना है कि इस लाट को राजा अनंगपाल ने ही बनवाया था। वह कहना है कि राजा ने सौ मन लोहा मंगवाकर उसे घड़वाया और लोहारों ने उसका पाँच हाथ लम्बा खम्बा बनाया।

जुदा-जुदा राय

यह लाट किस धातु की बनी हुई है, इसके लिए जुदा-जुदा राय हैं। कुछ का कहना है कि यह ढले हुए लोहे की बनी है, कुछ इसे पंचरस धातु पीतल, तांबा आदि से बना बताते हैं, कुछ इसे सप्त धातु से बना कहते हैं, कुछ इसे नर्म लोहे का बना कहते हैं। डॉ० मरे टोम्सन ने इसका एक टुकड़ा काटकर उसका विश्लेषण किया था। उसका कहना है कि यह केवल नर्म लोहे की बनी हुई नहीं है, बल्कि कुछ मिश्रित धातुओं से बनी है जिसके नाम भी उसने दिए हैं और इसकी साक्षेप गुरुता ७.८ बताई है।

मुमकिन है कि अनंगपाल प्रथम ने दिल्ली के, जैसा कि कहा गया है, पुराने क़िले में ही आबाद की हो जिस इन्द्रपत कहा जाता था और बाद में उसके वंशज दिल्ली को किसी कारणों से दरिया के किनारे से हटाकर पहाड़ी इलाके में अनंगपुर ले गए हों; क्योंकि खांडव वन का इलाका वही था और कुछ सदियों बाद उसे फिर नदी के किनारे किलोखड़ी स्थान पर बसाया हो; क्योंकि उनके मत के अनुसार लोहे की कीली मशहूर रिवायत इस किलोखड़ी के बारे में प्रचलित हुई होगी, जैसा कि नाम से पता लगता है कि कील—।—उखड़ी (किलोखड़ी) । उनका कहना है कि चंद कवि ने यह जो कहा है कि "इस लाट को अनंगपाल ने ही बनवाया था, जिस राजा ने सौ मन लोहा मंगवाकर घड़वाया और लोहारों ने उसका पांच हाथ लम्बा खम्बा बनाया" । यह मौजूदा लाट के सम्बन्ध में नहीं हो सकता, क्योंकि न तो यह सौ मन वज़न की आंकी गई है न पाँच हाथ लम्बी है । बल्कि उस जमाने में जैसा कि यह रिवाज था, अनंगपाल राजा ने ज्योतिषियों के कहने पर सौ मन लोहे की एक कीली बनवाकर नगर बसाने से पूर्व उसे धरती में गड़वाया होगा और जब ज्योतिषी ने बताया कि वह शेषनाग के फन पर पहुँच गई तो विश्वास न आने के कारण उसे उखड़वाकर देखा होगा, जिस पर से स्थान का नाम किलोखड़ी पड़ा और फिर उसे गड़वाने पर जब वह ठीक जगह न बैठकर ढीली रह गई होगी तो किलोखड़ी को ढीली किलोखड़ी कहने लगे होंगे, जिस पर से होते-होते दिल्ली नाम प्रचलित हो गया होगा । किलोखड़ी से हटाकर दिल्ली महरौली में लाई गई होगी । उनका तो यह कहना है कि यह कोई अलहदा स्थान न थे, बल्कि मिलेजुले थे । अनंगपाल ने जो लालकोट के अन्दर दिल्ली बसाई, बताते हैं, वहाँ तो मन्दिर थे और मन्दिरों में चूँकि उस वक्त बेशकीमत जवाहरात, सोना आदि धन रहता था, इसलिए उस सब की रक्षा के लिए किला बनाया होगा, जिस को बढ़ाकर पृथ्वीराज ने राय पथौरा का किला बना लिया । शिक्षक महोदय के मत के अनुसार कैकबाद ने जब किलोखड़ी में दिल्ली बसाई, जो नया शहर कहलाया, तो वह दिल्ली कुछ नई न होगी बल्कि पुरानी इमारतों को ही ठीक करके उसने अपने लिए क़िला और महल बना लिया होगा । इसी तरह उनकी

राय में जब तुगलक ने तुगलकाबाद का क़िला बनाया तो वहाँ भी पहले से क़िला रहा होगा क्योंकि इतना बड़ा किला और शहर दो वर्ष में बना लेना असम्भव था। यह कहना कि उसके किलों को जिन्न बनाते रहे, महज़ गप्प है।

एक और दंतकथा

मौजूदा कीली के बारे में उन्होंने जो कुछ कहा है इस प्रकार है—"यह कीली शुरू से यहाँ ही थी और मुमकिन है इसे राजा चन्द्र ने बनवाकर यहाँ ही लगवाया हो। उसने एक तालाब बनवाया, जो क्षीर सागर कहलाता था और उस तालाब में विष्णु भगवान की शेषशाई का मन्दिर बनवाया जो शेषनाग पर शयन कर रहे थे और जो हजार फन से भगवान पर साया किए हुए थे। यह कीली उस मूर्ति का ही भाग रहा होगा और इसके ऊपर चतुर्मुखी ब्रह्मा बैठे होंगे।

जब मुसलमानों ने दिल्ली पर विजय पाई तो यहाँ सीरी में राजपूतों की एक कौम सहरावत रहा करती थी, जो पृथ्वीराज के बड़े वफ़ादार थे। उन्होंने यह सुना हुआ था कि मुसलमान मन्दिर गिराते और मूर्तियाँ तोड़ते चले आ रहे हैं। यह मूर्ति मुसलमानों के हाथों में न पड़े इस विचार से वह उसे यहाँ से निकालकर रातोरात मथुरा की तरफ भागे। होटल पलवल के बीच पलवल से परे वे यमुना के किनारे एक गाँव में पहुँचे। मूर्ति बहुत भारी थी। उसे वे पार न ले जा सके। वहाँ ही वे जंगल में घुस गए और एक टीले के नीचे मूर्ति को छुपा दिया। घाट पर जो ब्राह्मण रहते थे उनसे यह कह दिया कि उनका पता किसी को न बताया जाए। पीछा करते हुए मुसलमान वहाँ आ पहुँचे और घाटवालों से उनका पता पूछा। उन्होंने यह कह दिया कि वे लोग तो यमुना पार चले गए। इस बात को सुनकर मुसलमानों ने उन सब लोगों को कत्ल कर डाला।

उन सहरावतों ने यमुना के खादर में मूर्ति को छुपाकर खुद वहाँ बस गए और उस गाँव का नाम खीरवी रखा। यह गाँव आज भी वहाँ आबाद है। सहरावत ही वहाँ रहते हैं। कालान्तर में लोग मूर्ति की बात भूल गए। बाद में इसी खानदान में दो व्यक्ति राघोदास व रामदास

हुए जिन्हें कोढ़ हो गया। यह बहुत दु:खी थे। अंग जल गए थे, चलना भी कठिन था। इन्होंने जगन्नाथपुरी जाकर प्राण छोडने का विचार किया। चला तो जाता न था। घुटनों के बल घिसटते-घिसटते चल पड़े। कुछ दूर जाकर इन्हें एक बूढ़ा मिला। इनसे पूछने पर कि कहाँ जा रहे हो, उन्होंने अपना उद्देश्य बताया। तब बूढ़े ने कहा कि जगन्नाथ मैं ही हूँ तुम्हें वहाँ जाने की ज़रूरत नहीं। मेरा भाई पौढ़ेनाथ हिरनोटा के मिट्टी के ढेर में दबा पड़ा है। तुम उसे निकालकर उसकी स्थापना करो और पूजा करो तो तुम्हारा कोढ़ दूर हो जाएगा। उस टीले की पहचान यह है कि उस पर यदि काली गाय जाकर खड़ी हो जाएगी तो उसके दूध की धार स्वत: ही उस टीले पर गिरने लगेगी। यह आदेश पाकर दोनों बूढ़े लौट आए और उस टीले की तालाश करने लगे। जैसा बताया था वैसा ही हुआ। तब उसे खोदकर मूर्ति बाहर निकाली और उसको स्थापित कर दिया गया।

खीरवी में शेषशायी भगवान का मन्दिर है। वहाँ जो मूर्ति है वह वही है या कोई और इसकी अभी तक जाँच नहीं की गई; मगर, कोई उसको काले पत्थर की बताता है कोई अष्ट धातु की। मगर मूर्ति वहाँ अवश्य है और यह कथा भी प्रचलित है। लोहे की लाट के साथ पीठ लादकर दोनों हाथ पीछे ले जाकर उन्हें मिलाकर असल माँ-बाप को जाँच करने की जो बात चली आ रही है उसके लिए भी शिक्षक महोदय ने एक नया विचार प्रकट किया। उनकी राय में इस लाट में विद्युत शक्ति रही होगी, रीढ़ की हड्डी में सुषुम्ना नाड़ी है। पीठ के लाट के साथ मिलने से विद्युत शक्ति का संचार सारे शरीर में हो जाता होगा। जिससे अन्त: के कितने ही रोग दूर हो जाते होंगे।

कुतुब मीनार

कुतुब मीनार के लिए भी शिक्षक महोदय का एक नया ही मत है जिसको सुनकर लोग उन्हें पागल कहने लगे हैं। उनकी राय में यह मीनार न तो पृथ्वीराज ने बनाया, न कुतुबुद्दीन ने; बल्कि इसे भी किसी और ने ही बनाया बताते हैं। उनका कहना है कि पृथ्वीराज ने बनाया होता तो उसका कवि चन्द्रबरदाई इसका ज़रूर ज़िक्र करता। दूसरे पृथ्वीराज का

समय विलास में ही अधिक बीता। उसको ऐसे कामों के लिए फुरसत ही कहाँ थी। यह मीनार उनकी राय में एक वेधशाला था, जैसा कि जन्तरमन्तर बना है और इससे सितारों की चाल को देखा जाता था। इसीलिए इसे तालाब में बनाया गया था ताकि ज्योतिषी लोगों को आसमान का नक्शा पानी में देखने से सहूलियत रहे। यह वेधशाला थी, इसके वह कई प्रमाण देते हैं—१. इसका द्वार ठीक उत्तर में है और ध्रुवतारा रात को ऐन सामने दिखाई देता है। महरौली नाम भी मिहिर पर से पड़ा है, जिसका संस्कृत अर्थ है सूर्य। सम्भव यह है कि यह बाराह मिहिर जो भारत का विख्यात ज्योतिषी हुआ है, उसने इसे बनवाया हो। इसको कुतुब भी इसीलिए कहते हैं क्योंकि कुतुबनुमा ध्रुवतारा ही होता है। इस मीनार पर जो लाल पत्थर लगे हैं; वे तो इसकी सुन्दरता के लिए हैं। अन्दर यह मसाले और पत्थर की बनी हुई है। पत्थरों को आपस में बाँधने के लिए लोहे के जो हुक लगाए गए हैं वे ऐसे लोहे के हुक हैं जो आज तक फला नहीं है। मगर मुसलमानों ने अपनी इमारतों में जो लोहे के हुक लगाए हैं, वह फूल गए और उन्होंने पत्थरों के कोनों को तोड़ डाला। मुसलमानों ने अपनी जितनी इमारतें बनाई हैं, वे काबे की तरफ मुख की हुई हैं और मीनार के तथा उनके बीच में कई डिग्री का अन्तर है।

इस मीनार में पाँच डिग्री का ढलान दिया गया है। यह सौ गज लम्बी थी। ८४ गज जमीन से बाहर और १६ गज पानी में तथा जमीन के नीचे। यहाँ से जीना चढ़ना शुरु होना है, उसके दहलीज के नीचे भी जीना गया हुआ था, लेकिन वह मिट्टी में दब गया।

इस मीनार पर सूरज की जो किरणें पड़ती हैं, वह भिन्न-भिन्न शक्ल की खास-खास जगह साया डालती हैं जिनसे यदि अच्छी तरह खोज की जाए तो तीन दिन के घंटों का और महीनों का हिसाब निकल सकता है। चुनांचे उन्होंने देखा है कि २१ जून को दोपहर के बारह बजे इस लाट का साया मीनार के अन्दर ही पड़ता है कहीं बाहर नहीं पड़ता। इससे साफ जाहिर है कि मीनार में कोई ऐसा ढंग जरूर है जो ज्योतिष सम्बन्धी हिसाब को बताता है।

२७ मन्दिर या नक्षत्र

जिन २७ मन्दिरों का जिक्र आता है कि मुसलमानों ने उन्हें ढा दिया, शिक्षक महोदय की राय में वह २७ नक्षत्रों के मन्दिर थे जिन पर धूप पड़ने की तिथि का पता लग जाता था वरना २७ की संख्या में मन्दिर बनाने का और क्या हेतू हो सकता था । शिक्षक कोई ज्योतिषी नहीं हैं, न कोई बहुत बड़े हिसाबदां, मगर वह इस खोज के पीछे पागल बने रहते हैं । उन्होंने यह भी बताया कि जिस स्थान पर मीनार बनाया गया है उसको भी समझ पूर्वक चुना गया है क्योंकि इसके पूर्व और पश्चिम में एकसी ऊँचाई की पहाड़ियाँ थीं जिन पर निशान लगे हुए थे और उसका साया वहाँ से नापा जाता था । वह अपनी धुन के इतने पक्के हैं कि उन्होंने तो लोहे की कीली पर लिखे लेख का अर्थ भी इस मीनार के सम्बन्ध में ही कर डाला और बताया कि उसमें सूरज की चाल का उल्लेख है। क्या ही अच्छा हो यदि ज्योतिषी और हिसाबदां तथा पुरातत्व वाले दोनों, स्थानों को जाँच दृष्टि से भी कर देखें । शायद कोई नया ही प्रकाश पुराने इतिहास पर दिखाई दे जाये ।

उनका कहना है कि इस पर सम्वत् पड़ा हुआ नहीं है और इस स्तम्भ का निर्माता महाराज मधवा को बताते हैं जो युधिष्ठिर का वंशज था और जिसने ईसा सन् ८९५ से पूर्व राज्य किया था ।

इस लाट पर जो दूसरी बातें खुदी हुई हैं वह इस प्रकार हैं—

१. अनंगपाल द्वितीय का "सम्वत दिहाली ११०९ अनंगपाल नहीं" अर्थात् सम्वत ११०९ (सन् १०५२ ई०) में अनंगपाल ने दिल्ली बसाई ।

२. दो लेख चौहान राजा चतुरसिंह के हैं जो राय पथौरा का वंशज था। ये दोनों सम्वत १८८३ (ई० १८२६) के हैं । खुद राय पथौरा का काल सम्वत् ११५१ (ई० १०९४) दिया है।

३. अब हाल का एक लेख ६ लाइन का नागरी भाषा में सम्वत १७६७ (ई० १७२०) का है जो बुन्देले राजा चंदेरी का है । इनके नीचे दो लेख फारसी के हैं जो १०६० और १०६१ हिजरी के हैं (ई० १६५१-५२) इनमें केवल दर्शकों के नाम दिए हुए हैं।

अनंगपाल के वंश वालों ने १६ या २० पीढ़ी तक दिल्ली की राजधानी में रहकर राज्य किया बताते हैं । अनंगपाल नाम के कई राजा हुए हैं । तोमर वंश का अन्तिम राजा अनंगपाल तृतीय था । इसके कोई लड़का नहीं था, दो कन्याएँ थीं । जिसमें बड़ी कन्नौज के राजा विजयचन्द्र को ब्याही थी जिसका लड़का जयचन्द्र कन्नौज के सिंहासन पर बैठा हुआ था । इसी जयचन्द्र ने मुसलमान आक्रमण करने वालों से मिलकर देशद्रोह किया बताते हैं । छोटी बेटी रुकाबाई अजमेर के राजा विग्रहराज के छोटे भाई सोमेश्वर को ब्याही थी । पृथ्वीराज चौहान इसी का पुत्र था । जयचन्द्र को यह आशा थी कि अनंगपाल अपनी बड़ी कन्या के पुत्र को गोद लेगा और इस प्रकार दिल्ली की गद्दी भी उसे मिलेगी मगर उसकी आशा पूर्ण न हो सकी, राज्य मिला पृथ्वीराज को । यह एक कारण था उसकी पृथ्वीराज से ईर्ष्या रखने का ।

पता चलता है कि अजमेर के चौहान वंशी विग्रह राज के पिता विशालदेव ने ११५१ ईस्वी में दिल्ली पर चढ़ाई की और अनंगपाल इस युद्ध में पराजित हो गया । कोटला फिरोज़शाह में जो अशोक स्तम्भ लगा है, उस पर विशालदेव का नाम खुदा है और उसका विक्रम १२२० (सन् ११६३) बताते हुए लिखा है कि उसका राज्य उत्तर में हिमालय पर्वत तक और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक नर्मदा नदी की सीमा तक फैला हुआ था ।

अनंगपाल के कोई पुत्र नहीं था । उसने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लेकर दिल्ली का राज्य उसे सौंप दिया ।

पृथ्वीराज चौहान हिन्दुओं का अन्तिम राजा हुआ है । इसे राय पथौरा भी कहते थे । यह विशालदेव की धेवता और सोमेश्वर का लड़का था जिनको अनंगपाल तृतीय की लड़की ब्याही थी । इसने सन् ईस्वी ११७० से ११९३ तक राज्य किया । यह कनिंघम का कहना है मगर सर सैयद इसका समय सन् ११४१ से ११९३ बताते हैं । इसके नाम से अनेक कविताएँ आज भी गाई जाती हैं । आल्हा-ऊदल की लड़ाई का किस्सा आज भी इधर के देहातों में प्रसिद्ध है जिसे सुनने के लिए हजारों की संख्या में लोग जमा हो जाते हैं । इसने पुराने क़िले लालकोट को सन् ११८० ई० में और भी बढ़ाया । यह कनिंघम का कहना है । सर सैयद

उसका साल ११४३ ई० बताते हैं । यह पाँच मील के घेरे में फैला हुआ था । इसको राय पथौरा का क़िला कहते थे । इसके खंडरात दिल्ली से ११ मील कुतुब और महरौली के इर्द-गिर्द मीलों में फैले हुए दिखाई देते हैं । महान कवि चन्द्रबरदाई ने इसके नाम से पृथ्वीराज रासो की रचना करके इस राजा के गुणों का बखान किया है । इसने जयचन्द्र की लड़की संयुक्ता से जयचन्द्र की इच्छा के विरुद्ध स्वयंवर में विवाह किया था। इस कारण जयचन्द्र की ईर्ष्या और भी प्रज्वलित हो उठी थी ।

पृथ्वीराज हिन्दुओं का अन्तिम राजा था ।

परिशिष्ट ३

बेगम समरू

"बेगम समरू की उम्र करीब पैंतालीस साल की होगी, नाटा कद, भरा हुआ बदन, गौर वर्ण, काली, बड़ी और जीवित आँखें । बहुमूल्य कपड़े की बनी हुई त्रुटिहीन पोशाक। हिन्दुस्तानी तथा फारसी धड़ाके के साथ बोलती है । वह तथा उनकी बातें हृदयग्राही, विवेकपूर्ण तथा जोश से भरी हुई होती हैं।"—फ्रैंकलिन, १७९६ ।

बेगम समरू, जिसके सम्बन्ध में फ्रैंकलिन नामक एक अंग्रेज़ लेखक ने उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी थीं, १८वीं सदी की अद्भुत साहसी महिला थी, जिसका सारा जीवन तूफानी जीवन रहा। भारतवर्ष के लिए वह समय उथल-पुथल का था, जबकि मुगल सल्तनत की इमारत क्रमशः ढहती जा रही थी तथा अंग्रेज़ और मराठे शक्ति की लड़ाइयों में आबद्ध थे । ऐसे तो मुग़ल साम्राज्य की नींव औरंगज़ेब के बाद से ही कमजोर पड़ने लगी थी, पर सबसे बड़ी चोट जिसने इसे बिल्कुल ही हिला डाला, नादिरशाह का आक्रमण था। दिल्ली के तख्त पर उन दिनों मुहम्मद शाह नाम का एक अयोग्य बादशाह आसीन था, जिसका सारा समय चरित्र-हीन औरतों तथा शोहदों की सोहबत में गुज़रता था। नादिरशाह जिन दिनों दिल्ली के क़िले में बैठा हुआ, नगरवासियों की हत्या में संलग्न था, उन्हीं दिनों की एक घटना है जिससे ज़ाहिर होता है कि स्वयं नादिरशाह तक ने यह महसूस किया था कि यदि मुहम्मद शाह का दरबार अयोग्य तथा बुद्धिहीन व्यक्तियों से भरा नहीं होता तो शायद वह उसे पराजित करने में समर्थ न होता ।

शाम का वक्त था। क़िले के एक कमरे में बादशाह मुहम्मद शाह, जिसे लोग रंगीला कहा करते थे, तथा नादिरशाह बैठे हुए थे । इतने में दरबार का वह व्यक्ति जो तहज़ीब, शिष्टाचार का पंडित माना जाता

था, अपने हाथों में "काफी"[१] लिए हुए आकर उपस्थित हुआ । सारी आँखें उसकी ओर थीं । उसके सामने यह प्रश्न था कि वह "काफी" सर्वप्रथम किसे अर्पण करे । यदि बादशाह को, तो नादिरशाह क्रुद्ध होता है, यदि नादिरशाह को, तो बादशाह अपमानित होते हैं । विकट समस्या थी यह, पर लानेवाले को प्रत्युत्पन्नमति ने इसका सुन्दर समाधान कर दिया । वह सीधा मुहम्मदशाह के पास पहुँचा तथा सोने की तश्तरी को जिसमें काफी रखी हुई थी, यह कहते हुए कि "जहाँपनाह के परम श्रेष्ठ अतिथि, शाहंशाह को मैं अपने हाथों काफी देकर इज़्ज़त हासिल करने की धृष्टता नहीं कर सकता और न हुजूरवाला ही यह चाहेंगे कि सिवा हुजूर के कोई दूसरा काफी प्रदान करे" उसने मुहम्मदशाह के सामने रखा। दरबार के लोग उसे बादशाह की ओर बढ़ते देख चकित हो रहे थे । शाहंशाह ने तश्तरी से प्याला उठाकर नादिरशाह की ओर बढ़ाया । नादिरशाह ने मुस्कराते हुए उसे ग्रहण किया और कहा—

"यदि आपके सभी कर्मचारी इस आदमी की तरह अपना फर्ज़ समझते और अदा करते तो भाई जान, मैं और मेरी फ़ौज आज दिल्ली में न पाई होती । आप इस आदमी पर मेहरबान रहें और इस तरह के जितने भी व्यक्ति मिल सकें, उन्हें अपने दरबार में जगह दें ।"

पर नादिरशाह की राय को बादशाह ने नहीं सुना और उसका दरबार शोहदों का अखाड़ा बना ही रहा । धीरे-धीरे मुग़ल शासन की बागडोर ढीली पड़ती गयी । देश में अशान्ति फैल गयी तथा लुटेरों के दल समस्त भारत में निर्भय होकर विचरने लगे । सिख, जाट, अफगान, क्रमशः शक्ति सम्पन्न हो गए तथा मुग़ल साम्राज्य पर चोट पर चोट देने लगे । केन्द्रीय शासन के पाँव उखड़ जाने के कारण जहाँ-तहाँ सामन्तों ने अपनी-अपनी सत्ता स्थापित कर ली तथा स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन करने लगे । मेरठ ज़िले के सरधना नामक स्थान में बेगम समरू की भी ऐसी ही एक सामन्तशाही चल पड़ी । इसकी भी एक रोचक कहानी है ।

सन् १७५३ के आसपास बेगम का जन्म मेरठ जिले के एक छोटे कस्बे में हुआ था । असद खाँ नामक एक जमींदार की उप-पत्नी के गर्भ से

---

१. 'काफी-पान' का चलन उन दिनों भी था । पता नहीं, काफी-हाऊस जैसी कोई संस्था थी या नहीं ! काफी को "कहवा" कहते थे ।

वह पैदा हुई । पिता की मृत्यु पर अपने सौतेले भाई के द्वारा उत्पीड़ित होकर अपनी माँ के साथ १७६० के करीब वह दिल्ली चली गयी । वहीं समरू के साथ इसका परिचय हुआ और उसने अपने पास नौकरानी के काम में रख लिया । धीरे-धीरे इसके तथा समरू के बीच घनिष्टना बढ़ती गयी और अन्त में दोनों विवाह-सूत्र में बंध गए ।

समरू का वास्तविक नाम राइनहर्ड था और जाति का वह फ्राँसीसी था । फ्राँसीसी फ़ौज का एक सिपाही होकर वह हिन्दुस्तान आया और पीछे चलकर ईस्ट इंडिया कम्पनी में सर्जेन्ट के काम पर बहाल हो गया । दरअसल उसका नाम राइनहर्ड सोमब्रे था, पर धीरे-धीरे लोग उसे समरू कहने लगे । इतिहास में वह समरू नाम से ही प्रसिद्ध है ।

समरू का जन्म एक कसाई परिवार में हुआ था । फ्रॉसीसी और अंग्रेज़ दोनों को ही उसने चकमा दिया और अन्त में मीर कासिम से जा मिला । मीर कासिम के द्वारा पटने में जो अंग्रेज़ों की हत्या हुई उसमें उसने प्रमुख भाग लिया, स्वयं अपने हाथों से, कहते हैं, कि उसने १५० अंग्रेज नर-नारी और बच्चों का काम तमाम किया था ।

फिर बारी-बारी उसने अवध के वजीर नवाब तथा रोहिलखंड के सरदार हाफिज रहमत खाँ के यहाँ नौकरी की; पर अधिक दिनों तक कहीं न ठहरा ।

अन्त में १७७२ में उसने पलटन की दो टुकड़ियाँ कायम कीं और भाड़े पर कभी जाट सरदार की ओर से, कभी जयपुर राजा की, कभी नजफ़ खाँ और कभी मराठों की ओर से लड़ाइयों में हिस्सा बँटाता रहा । यूरोप से अर्थ-लोभ में आये हुए अनेकों व्यक्ति भारत में उन दिनों जहाँ-तहाँ पड़े हुए थे, उन्हें पैसे की चाह थी ही, आसानी से उन्होंने समरू की पलटन में नौकर होना स्वीकार कर लिया ।

पलटन की इन टुकड़ियों का भी कुछ विचित्र हाल था । पैसे की कमी से किसी सैनिक का वेतन तब तक नहीं मिलता था, जब-तक कि वह विद्रोह करने पर उतारू न हो जाय । यही नहीं, जब तब पलटन के अफसरो को बन्दी बनाकर उनके गाड़े हुए धन को बाहर निकालने को बाध्य भी किया जाता था । पर चूँकि सब का एक ही उद्देश्य था, धनोपार्जन, अतः इनमें मज़बूरी एकता थी । लड़-झगड़ कर भी ये एक जुटे

हुए थे । समरू सबसे अधिक चालाक, धूर्ताधिराज था, अतएव उसकी अधीनता सबको मँजूर थी । उसके लड़ने का भी एक खास ढंग था जिसका वह हर लड़ाई में प्रयोग किया करता था ।

युद्ध-क्षेत्र में वह सब से सुरक्षित कोने की ओर से घुसता तथा शत्रु दल की ओर बगैर देखे-सुने दस-बीस गोलियाँ दाग देता था । फिर चुप-चाप लड़ाई के नतीजे का इंतज़ार करता था, यदि दुश्मन जीत गये तो वह फ़ौरन अपनी पलटन के साथ उनसे जा मिलता था, यदि हार गये तो विजेता रूप में लूट-पाट में पूरी तरह शामिल हो जाता था ।

१७७८ के ४ मई को आगरे में उसकी मृत्यु हुई । अपने बाग के ही एक कोने में उसकी कब्र बनी । पर, पीछे चल कर जब उसकी पत्नी बेगम समरू ने १७८१ में ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया तो उसके शव को वह आगरा गिरजाघर के कब्रिस्तान में ले आयी तथा वहीं उसकी कब्र बनवायी, जो आज भी मौजूद है ।

बेगम समरू की अवस्था उस समय चालीस के करीब थी । उसका ईसाई नाम "जोआना" पड़ा । तब तक उसने सरधने में एक जबर्दस्त सामन्तशाही की स्थापना कर ली थी ।

समरू की मृत्यु के बाद उसकी पलटन के यूरोपीय तथा हिन्दुस्तानी अफ़सरों ने उससे आग्रह किया कि सेनापति का स्थान वह ग्रहण करें । उसने इसे स्वीकार कर लिया । दिल्ली के तख्त पर उन दिनों शाह आलम विराजमान थे । बादशाह ने भी बेगम समरू का सेनापति होना स्वीकार कर लिया । स्मरण रहे कि समरू की यह पलटन उस समय बादशाह के काम में लगी हुई थी, अतएव उनकी स्वीकृति आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य थी ।

उन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गयी जिससे बेगम के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है ।

आगरे के उसके मकान में अनेकों ऐसे परिवार रहा करते थे जो उसके कृतदास थे । ऐसे ही एक परिवार की दो गुलाम लड़कियों ने, कहते हैं, एक रात बेगम के मकान में अर्थ-लोभ से आग लगा दी और रुपये, पैसे, ज़ेवर लेकर भाग खड़ी हुई । बड़ी मुश्किल से आग बुझायी गयी, पर बेगम को इससे काफ़ी नकसान पहुँचा । बेगम अपनी पलटन के साथ उन दिनों

मथुरा में वज़ीरेआलम की फ़ौज के साथ ठहरी हुई थी। खबर पाकर वह आगरे लौटीं और उन दोनों लड़कियों को आगरे के बाज़ार से ढूँढ मंगाया और फिर हुक्म दिया कि इन्हें जीवित ही मिट्टी में गाड़ दिया जाय। ऐसा ही हुआ और वे दोनों जीवित अवस्था में ही ज़मीन के भीतर गाड़ दी गयीं। शाम का वक्त था, बेगम ने यह सोच कर कि रात में उन्हें कोई निकाल न डाले, उनके ऊपर अपनी खाट बिछवायी और रात भर वहीं तम्बू लगाकर सोती रही। कहते हैं, बेगम के ऐसा करने में एक दूसरे उद्देश्य की पूर्ति भी थी। वह अपनी पलटन के सिपाहियों को यह दिखाना चाहती थी कि उसे दोषियों को कठोर से कठोर दण्ड देने में ज़रा भी हिचकिचाहट नहीं है।

बेगम के इस कार्य का मनोवांछित फल हुआ, पलटन के सिपाहियों, जो हमेशा विद्रोह की धमकियाँ दिया करते थे, के व्यवहार में काफ़ी परिवर्तन आ गया, अब वे अनुशासन के रास्ते पर चलने लगे। पर बेगम समरू का यह आचरण उसके चरित्र पर काला धब्बा लगाता है, इसमें सन्देह नहीं। नारी-स्वभाव पर भी।

इसके कुछ ही दिनों बाद पलटन में मोशिए ली मेसो नाम के एक फ्रांसीसी अफ़सर का आगमन हुआ जो विशिष्ट परिवार के एक शिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति थे। बेगम समरू ने उन्हें फ़ौज का नायक मुकर्रर किया। पर अब फ़ौज में टुकड़ियों की संख्या छः हो चुकी थी, जिनमें से आधी सरधने में, जो अब बेगम का सदर मुकाम हो रहा था, और आधी दिल्ली में, बादशाह की मदद में, ठहरी हुई थीं। बेगम की दिल्ली वाली पलटनों का नेतृत्व एक दूसरे अत्यन्त कुशल आयरिश सेनानी जार्ज टामस कर रहे थे। टामस की वजह से बेगम समरू का स्थान बादशाह की आँखों में बहुत ऊँचा हो गया था, चूँकि नजफ कुली खाँ के विरुद्ध लड़ते समय जब एक बार शाह आलम घिर गये तो टामस घोड़े पर दौड़ता हुआ उनके पास पहुँचा तथा उन्हें दुश्मन के पँजों से छुड़ा लाया था। बेगम स्वयं भी उस वक्त पालकी पर सवार अपनी पलटन के साथ साथ ही थीं। इसी लिए इस घटना का सारा श्रेय उन्हें ही प्राप्त हुआ, बादशाह ने समझा, बेगम के आदेश पर ही टामस दौड़ता हुआ उनकी सहायता को आया था।

शाह आलम ने उस दिन से बेगम समरू को "बादशाह की सबसे प्यारी शाहज़ादी" कहना शुरू किया जो एक बड़े ऊँचे दर्जे की इज़्ज़त थी।

यह टामस के कारण हुआ, पर प्रेम अन्धा होता है, बेगम मोशिए ली मेसो के प्रेमजाल में जा फँसी और १७९३ में उसने ली मेसो के साथ शादी भी कर ली। जार्ज टामस का बेगम के इस आचरण से दिल टूट गया और वह अपने पद से इस्तीफ़ा देकर चलता बना।

बेगम और ली मेसो के बीच एक बात को लेकर घोर मतान्तर चल पड़ा। बेगम चाहती थीं कि उसकी फ़ौज के जितने अफ़सर हैं वे उन दोनों के साथ-साथ ही, एक ही मेज़ पर, खाना खाया करें। ली मेसो इसके विरुद्ध थे, परिणाम यह हुआ कि फ़ौजी अफ़सरों के बीच इस बात को लेकर घोर असन्तोष छा गया और अन्त में विद्रोह की आग के भड़कने के सारे आसार समुपस्थित हो गये।

बेगम और ली मेसो दोनों की प्रबल इच्छा थी कि वे अब फ़ौज की टुकड़ियों से अपना सम्बन्धविच्छेद कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की संरक्षता में कहीं अपने दाम्पत्य जीवन के शेष दिन शाँति में बिताएँ। बेगम के पास काफी धन था, रुपये और जवाहरात, जिससे वे आजीवन खुशहाली के साथ रह सकते थे। ब्रिटिश फ़ौज की अनूपशहर स्थित पलटन के अध्यक्ष कर्नल मेकग्वान के सामने उन्होंने इस प्रस्ताव को रखा भी, पर चूंकि बेगम की सेना उन दिनों बादशाह के काम में लगी हुई थी, मेकग्वान ने बगैर लाट से पूछे इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। उसने बड़े लाट सर जॉन शोर को अप्रैल १७९५ में खत लिखा कि वह बादशाह से इस बात की अनुमति लें कि कम्पनी की सरकार बेगम समरू अपना संरक्षण प्रदान करे।

शाहआलम का सारा कारोबार उन दिनों माधोजी सिन्धिया देख रहे थे, उनके तथा बेगम समरू के बीच बातचीत शुरू हुई। सिंधिया ने अनुमति प्रदान करने के लिए ११ लाख रुपये की मांग की, बेगम ने अपनी फ़ौज के सरो-सामान के लिए जिसे उसने अपने पैसों से जुटाया था, चार लाख रुपये मांगे। अन्त में यह तय पाया कि बेगम सेनाध्यक्ष के पद से इस्तीफ़ा देकर चुपचाप अपने पति के साथ अन्यत्र चली जायँ, सिंधिया इस पद पर अपने किसी अफ़सर को बहाल करेंगे तथा बेगम के पुत्र 'वारिस'

को दो हजार रुपये महावारी आजन्म बादशाह की ओर से दिया करेंगे। ली मेसो और बेगम चन्दरनगर में रहा करेंगी।

लेकिन दिल्ली-स्थित बेगम की पलटन को जब इन बातों की खबर लगी तो उन्होंने यह तय किया कि वे बेगम के पुत्र को अपना सेनाध्यक्ष निर्वाचित करेंगे तथा बेगम समरू और उनके द्वितीय पति ली मेसो को पकड़ कर बन्दी बना रखेंगे। बेगम समरू और ली मेसो ने जब यह खबर सुनी तो दोनों सरधने से अनूपशहर के लिए भाग चले। बेगम ने कहा—"मै अपने साथ एक कटार रखूँगी और यदि बलवाई पहुँच गये तो उसी से अपना प्राण दे दूँगी, पर जिन्दा अपने शरीर को उनके हाथ न पड़ने दूँगी"।

ली मेसो ने कहा—"मेरे पास पिस्तौल होगा, मैं इससे अपना काम तमाम कर डालूँगा।"

बेगम समरू पालकी पर चली। ली मेसो घोड़े पर, साथ-साथ।

संयोग की बात। अभी वे कुछ ही दूर गये होंगे कि पीछे से सरधना वाली पलटन के सिपाही आ पहुँचे। ली मेसो ने पूछा—"बेगम, संकल्प पक्का है न ?" बेगम समरू ने कहा—"बेशक !"

ली मेसो यदि चाहता तो घोड़ा दौड़ा कर निकल भाग सकता था, पर अपनी पत्नी की माया ने उसे रोके रखा। सिपाही करीब आ गये, बेगम समरू की दासियाँ भय से चिल्ला उठीं, ली मेसो ने देखा—बेगम के सफेद कपड़े से खून बह रहा है। बस अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसने सर पर पिस्तौल का निशाना लगाया और उछल कर ज़मीन पर जा गिरा। उसका प्राण पखेरू उड़ चुका था।

बेगम बच रही। कटार हड्डियों से जा टकरायी, अन्तस्तल को भेद न सकी और न उसे साहस ही हुआ कि वह दूसरी बार उसका प्रयोग करे।

कुछ लोगों का कहना है कि बेगम समरू ने जान बूझ कर हल्की चोट दी ताकि वह बच रहे, पर ली मेसो खून के छींटे देख कर आत्म-हत्या कर ले और इस तरह ली मेसो से वह अपना पिंड छुड़ा पाये। सम्भव है, यह शंका निर्मूल हो, पर बेगम समरू का अन्त तक अपने प्रथम पति के नाम को अपने नाम के साथ जोड़े रखना तथा ली मेसो के साथ विवाह की बात सब से छिपा रखना, इस संदेह को पुष्टि प्रदान करते

हैं। बेगम ने कभी किसी से यह न कहा कि उसने ली मेसो से शादी की है, ऐसी दशा में उन दोनों का पति-पत्नी के रूप में रहना उसकी पलटन के सभी लोगों को खटकता रहा, तथा उनके अस्तंगत सेनाध्यक्ष समरू की पत्नी का इस प्रकार व्यभिचारिणी-रूप में रहना उन्हें असह्य हो रहा था।

ली मेसो के शव को उन्होंने पूरी तरह अपमानित किया और फिर शृगाल और कुत्तों के भक्षणार्थ बन में फेंक दिया।

जार्ज टामस ने जिसके इशारों से पलटन ने बगावत के झण्डे उठाये थे, राय दी कि वे बेगम समरू को बजाय इसके कि अपमानित करें, पुनः गद्दी पर बैठायें चूंकि यदि वे ऐसा नही करते है तो शाह आलम फ़ौज की इन टुकड़ियों को तोड़ डालेगे, क्योंकि ऐसी अनुशासनहीन पलटन से उनका काम ही क्या चल सकेगा और फिर उन्होंने बेगम का नमक भी तो खाया है, अतएव उनके लिए यही श्रेयस्कर है कि बेगम को पुनः अपने पद पर आसीन करें।

ऐसा ही हुआ, और पलटन के करीब यूरोपियन अफ़सरों ने बेगम के प्रति फ़वादारी की शपथ खाई। बेगम समरू पुनः सरधना की रानी बनी।

सेना का नेतृत्व जब एक दूसरे फ्राँसीसी अफ़सर के हाथ में आया, मोशिये सेलो के। फ़ौज की पलटन में काफी तरक्की हुई तथा कर्नल सेलो के नेतृत्व में वह दकन में सिंधिया की मदद में बड़ी बहादुरी के साथ लड़ी।

असेई के युद्ध के बाद बेगम समरू अंग्रेजों के साथ जा मिली और अन्त समय तक उनके साथियों में बनी रही। सरधने में जहाँ वह एक स्वतन्त्र सामन्त की तरह शासन कर रही थी, उसने एक सुन्दर गिर्जा-घर का निर्माण किया जो आज भी वर्तमान है। चर्च के खर्चे के लिए उसने एक लाख रुपये भी पादरी को दिये। डेढ़ लाख रुपये पोप के पास रोम दानार्थ प्रेषित किये, कलकत्ते के विशप के पास एक लाख रुपये भेजे इसके अलावा और भी कई लाख रुपयों का उसने दान किया। हिन्दू तथा इस्लामी संस्थाओं को भी उसने काफ़ी चन्दे दिये। फिर भी मरने के बाद साठ लाख रुपये वह अपने वारिस को छोड़ गयी।

बेगम समरू ने जीवन के अन्तिम दिन काफी ठाट-बाट से बिताये। शुरू में तो वह मुस्लिम बेगमों की तरह चिलमन की ओट से ही सारे काम करती थी, बाहर निकलने पर बुरके का प्रयोग भी, पर पीछे चलकर, १८०३ के बाद जबकि उसका कम्पनी सरकार के साथ गठ-बन्धन हुआ, उसने अपना रहन-सहन बिल्कुल पाश्चात्य ढाँचे का कर लिया; पर्दे का त्याग कर, मेज़ पर खाना, बड़े लाट, जंगी लाट की दावतें, सब कुछ करने लगी और तत्कालीन यूरोपीय समाज में उसने एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया।

लार्ड विलियम बेन्टिक (तत्कालीन बड़े लाट) ने भारत छोड़ते समय बेगम समरू को एक निम्नलिखित पत्र लिखा था—

"To her Highness the Begum Samroo.
My esteemed Friend,

I cannot leave India without expressing the sincere esteem I entertain for your Highnesses' character. The benevolence of disposition and extensive charity which have endeared you to thousands, have excited in my mind sentiments of the admiration; and I trust that you may yet be preserved for many years, the solace of the orphan and widow and the sure resource of your numerous dependents. Tomorrow I embark for England; and my prayers and best wishes attend you and to all others who, like you, exert themselves for the benefit of the people of India.

I remain,

With much consideration,
Yours sincere friend,
Bentinck.

Calcutta, March 17th, 1835.

"मेरे सम्मानीय मित्र,

बगैर यह जताये कि में आपके चरित्र के लिए कितना प्रशंसा का भाव अपने दिल के अन्दर रखता हूँ, मैं हिन्दुस्तान नहीं छोड़ सकता।

मैं कल इंगलैंड के लिए जहाज पर चढ़ूँगा, मेरी प्रार्थनाएँ और शुभ कामनाएँ आप के साथ होंगी, इत्यादि-इत्यादि।"

राजधानी में एक इलाका आज भी "कोठी बेगम समरू" के नाम से प्रसिद्ध है। यह है चाँदनी चौक में; स्टेट बैंक के पीछे। सामने ही एक

विशाल प्रासाद है जो बेगम ने अपने रहने के लिए कई लाख रुपये लगा-कर बनवाया था। ऐसी ही एक कोठी उसने सरधने में बनवाई थी। बेगम आज नहीं है, पर उसकी कोठी के नाम पर इलाका "बेगम समरू" जीवित है। अपने वर्त्तमान मालिक कोठी के नाम पर आज यह कोठी—'भागीरथ पैलैस' कहलाती है।

जनवरी, १८३६ में बेगम समरू ने वहाँ के लिए प्रस्थान किया जहाँ जाकर कोई आज तक नही लौटा, एक तूफानी जीवन की समाप्ति हुई। सरधने के गिरजाघर की ऊँची मीनार आज भी बेगम समरू की याद दिलाती है।

परिशिष्ट ४

सूफी और सूफीवाद

सृष्टि के आदि काल से ही मानव हृदय में ये प्रश्न उठते रहे हैं कि वह कौन है (कोऽहम्) संसार क्या है, प्रकृति क्या है, किसके द्वारा ये सृष्ट हैं—तथा किससे संचालित है ? युग-युग से मनुष्य ने इस शाश्वत रहस्य के उद्घाटन की चेष्टा की है, जिज्ञासाशील रहा है । रहस्यवाद के मानव की यह जिज्ञासा ही उद्गम संस्थान है—सूफीवाद का भी । भारतवर्ष के प्राचीन मुनि-महर्षियों की भाँति सूफी फ़कीर, अरब, ईरान, मिश्र आदि देशों में अनुभूति प्राप्त कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि यह जगत ब्रह्ममय है—सर्व खल्विदं ब्रह्म—तथा मनुष्य उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं, स्वयं ही ब्रह्म है (सोऽहम्) । जबतक कि यह आत्मानुभूति नहीं होती वह प्रकृति के विभिन्न रूपों, सूर्य, चन्द्र, वायु आदि को देखकर चकित होता रहता है और उनकी पूजा करता है, पर इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद उसकी आस्था ब्रह्म में हो जाती है, उसकी दृष्टि समदर्शी तथा एकात्मवादी होती है । परमात्मा के, जिसका कि वह अंश है, विरह से कभी तो वह व्याकुल हो उठता है, कभी उसके मिलन में सहजानन्द का अनुभव करने लगता है, संसार की सारी चीज़ें उसे रूखी-सी प्रतीत होने लगती हैं, दिव्य-प्रेम की शराब पीकर उसके नशे में अहोरात्रि मस्त रहता है । लोक-परलोक दोनों से ही उसे विरक्ति हो जाती है, अर्थात् मन और आत्मा दोनों से ही सन्यास ले लेता है । फल प्राप्ति की आकाँक्षा उसके दिल में नहीं रह जाती । डाक्टर इक़बाल ने इस भाव को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रकट किया था—

वाइज़[1] ! कमाले-तर्क[2] से मिलती है याँ मुराद,
दुनिया जो छोड़ दी है तो उक़बा[3] भी छोड़ दे ।
सौदागरी नहीं य इबादत खुदा की है,
ओ बेख़बर ! जज़ा[4] की तमन्ना भी छोड़ दे ।

---

१. उपदेश देने वाला । २. अन्तिम का त्याग । ३ परलोक । ४. फल-प्राप्ति ।

दूसरों को पुकार-पुकार कर कहता है—अपने आप को पहचानो तथा संसार के विषय-वासना रूपी कीच से—संस्कारों से—आत्मा को, यानि स्वयं को, मलिन न करो, इन्हें धोकर उज्जवलता प्राप्त करो।

पर यह समझ बिना प्रयास के न आ सकेगी, अतएव इसे प्राप्ति करने को उदयमशील बनो, साधक बनो। साधन का मार्ग किसी गुरु से पूछो, बिना उसके रास्ता नज़र न आयगा—"गुरु बिनु कौन दिखावे बाट ?"

गुरु के दिखाये हुए मार्ग पर चलो, केवल पथ पूछकर ही न रह जाओ, अपने साधन, रेयाज़ के बल का भी भरोसा रक्खो—

ऐ ज़फ़र अपनी रेयाज़त का न जब तक बल हो,
न तो बल पीर का काम आये, न उस्ताद का बल !

साधन का अर्थ कर्म-काँड, पूजा-पाठ, बाहरी आडम्बरों से नहीं, अन्तर की पुकार से है। प्रतिक्षण प्रियतम का नाम लो (अजपा), उसका ध्यान करो, फिर तो आत्मस्वरूप को देख ही लोगे। तुम और तुम्हारा प्रियतम दो नहीं, एक ही हैं—अद्वैतभाव को, अतएव, दिल से हटा दो।

यही है सूफीवाद एवं सूफी का असली स्वरूप। ज़ाहिर है कि इस्लाम के कट्टरपंथियों, धर्मान्धों, को ये विचार धर्म पर आघात-जैसे लगे, वे घबड़ा उठे, एक तहलका-सा मचा डाला और कई महान्, पहुँचे हुए, सूफी मौत के शिकार हुए, सूली पर चढ़ा दिए गये या कत्ल कर दिये गए। "अनलहक़" (ब्रह्मोस्मि, मैं ही खुदा हूँ) की रट लगानेवाले इरानी —महात्मा मंसूर के खिलाफ मुल्लाओं ने कुफ्र—नास्तिकता—का आरोप लगाया, अन्त में उन्हें हज़ार कोड़े लगवा तथा सूली पर चढ़ाकर ही दम ली। और इस तरह—

मनसूर सर कटा के सुबुकदोश हो गया,
था सख्त जिसके दिल प अनलहक़ का राज़ बोझ !

यहाँ भारत में, सरमद जैसे सूफी महात्मा औरंगज़ेब के द्वारा क़त्ल हुए, यह कहते हुए कि—

"देर अस्त कि अफसानए-मन्सूर कुहन शुद,
अकनूँ सरे नौ जलवा दिहम् दारो-रसन रा।"

"मंन्सूर की कहानी बहुत दिनों से पुरानी पड़ गयी है, अब मैं उसे पुनः ताजा करता हूँ—दारों—रसन के तरीके को फिर से चमकाता हूँ।" कहते हैं, मृत्यु के पहले औरंगज़ेब ने अपने एक मित्र से पूछा था कि मैंने सरमद को क़त्ल कर जो पाप किया उसका बोझ दिल से नहीं जाता, क्या करूँ ?

इस्लामी मुल्कों में धुननून, नूरी, हल्लाज आदि पहुँचे हुए फ़कीर भी धर्मान्धता का शिकार हुए। सूफीमत का आरम्भ अरब में हुआ, फिर वह फारस, मिश्र आदि मुस्लिम मुल्कों में फैला, स्पेन तक गया, तथा मुसलमानों के साथ-साथ भारतवर्ष में आया। विभिन्न देशों के संपर्क में आकर वह तद्देशीय विचार-धाराओं से प्रभावित भी हुआ जैसे कि भारत में अद्वैतमत एवं योगमत के सिद्धान्तों से, मिश्र में यूनानी नव-अफलातूनी मत से। एकान्तवास, गुरूभक्ति तथा निष्काम-प्रेम की उसकी भावनाएँ भारत आकर और भी दृढ़ हो गयीं, पर इसका अस्तित्व आरम्भ से ही था, इसमें सन्देह नहीं। बसरा में उत्पन्न हुई (सन् ७१७ में) राबिया इसी प्रेम-भावना से ओतप्रोत थी। कहते हैं, वह प्रतिदिन अपने मकान की छत पर जाकर प्रार्थना किया करती थी कि हे मेरे स्वामी, लोग सोये हुए हैं, आकाश में केवल तारे जागृत हैं। बादशाहों के घरों के किवाड़ बन्द हैं, प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेमिका के पास है, मैं यहाँ एकाकिनी तुम्हारे संग हूँ।"

एक बार जब स्वप्न में हज़रत मुहम्मद ने उससे पूछा कि तुम मुझसे प्रेम करती हो, तो उसने बड़े गर्व के साथ उत्तर दिया कि, हे ईश्वर-दूत, सभी तुमसे प्रेम करते हैं, पर मुझे खुदा के प्रेम ने ऐसा सराबोर कर रक्खा है कि किसी और के लिए न तो मेरे हृदय में प्रेम को ही स्थान रहा, न घृणा को। कितना ऊँचा भाव है यह ! सूफी प्रेम-भावना की पराकाष्टा है। महात्मा सूरदास की ये पंक्तियाँ सहसा स्मरण हो आती हैं—

ऊधो, मन नाहीं दसबीस,
एक हुतो सो गयो स्याम संग, कौन अराधै ईस ?

सूफीमत का जन्म हज़रत मुहम्मद की मृत्यु के कुछ ही दिनों के बाद हुआ, ऐसा प्रतीत होता है, पर भारतवर्ष में इस मत का पूर्ण स्थापन

१२वीं शताब्दी से हुआ। धीरे-धीरे मुसलमानी सल्तनत के दिनों में इसका काफी प्रसार होता गया। सिन्ध, जहाँ कि इसका प्रवेश सर्वप्रथम ७१२ई० में हो चुका था, पंजाब, उत्तर-भारत, बिहार तथा बंगाल के क्षेत्रों में इसका काफी प्रचार रहा। मुसलमानों के सिवाय हिन्दुओं में भी इस मत का प्रचार हुआ तथा कई हिंदु पहुँचे हुए सूफी साधुओं के उल्लेख मिलते हैं। गरज़ यह कि इस देश में भी एक नहीं, अनेकों बड़े उच्च श्रेणी के सूफी-फ़कीर, साधु, पैदा हुए जिनमें केइयों के मज़ार अब भी, देश के विभिन्न भागों में, अवस्थित हैं और उनकी याद दिलाते हैं।

आज से प्राय: २८ साल पहले कनखल में स्वर्गीय पद्मसिंह जी शर्मा के साथ मैं ठहरा हुआ था। वहाँ एक सज्जन मिले जिन्होंने पंजाब के प्रसिद्ध सूफी महात्मा बुल्लेशाह का—जिनकी लाहौर के समीप, कसूर में समाधि है—एक गीत गाकर सुनाया था, अत्यन्त सुन्दर था, उसकी याद आज भी मुझे तड़पा देती है। समूचा याद नहीं पर उसकी निम्नोक्त पंक्तियाँ कानों में गूंज रही है—

"जब तू ओथों आई सी,
तेरी सूरत-शकल इलाही-सी,
तेरी चुनड़ी नूँ दाग न स्याही-सी,
हुण तें आये ई चिक्कड़ लबेड़ी कुड़े!"

अर्थात्, जब तू वहाँ से आयी थी, तेरी मुखाकृति ईश्वर के समान दिव्य थी, तेरी चादर पर न तो दाग था, न स्याही थी। अब तूने स्वयं ही उसे कीचड़ में सानली—विषयवासनाओं, संस्कारों, से उसे मैली बना ली! फिर एक वार बू अली शाह—जिनकी कब्र पानीपत में है और जो अमीर खुसरो के समकालीन थे—की बनायी हुई ग़ज़ल सुनकर आनन्दातिरेक से उछल पड़ा था—

तुझे है चाह दरसन का तो हरदम लौ लगाता जा,
जला कर खुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा।
न जा मस्जिद, न रख रोज़ा, न मर भूखा, न कर सिजदा,
वज़ू को तोड़ दे कूजा, शराबे शौक पीता जा।
हमेशा खा, हमेशा पी, न गफ़लत से रहो इकदम,
नशे में सैर कर अपनी खुदी को तू जलाता जा।

न हो मुल्ला, न हो पंडित, दुई की छोड़ दे पूजा,
हुकुम के शह कलन्दर का, अनलहक़ तू कहाता जा।
तू धागा तोड़ तसबी की, किताबें डाल पानी में,
मसल[1] ले हाथ चलता चल, मोसक्कत को भी लाता जा।
फिराकर इश्क का झाड़ू सफा कर दिल के हुजरे[2] को,
दुई की धूल को फिर तो मोसल्ले[3] से उड़ाता जा।
कहा मंसूर मस्ताना, कि हक़ को दिल में पहचाना,
यही मस्तों का मयखाना, इसी के बीच आता जा।

और एक सूफी साधू ने गाया था—

हेरी सखी करूँ कौन उपाय,
चुनरिया मेरी गयी धुंधलाय।
ज्ञान का रहे, ध्यान का सन्दन,
तन की भठी चढ़ाय,
काम, क्रोध, मोह, मद, माया,
विरह-अग्नि जलाय।
अंसुअन धार खंगार, उपछ के,
साबून रक्त लगाय,
घर घर प्रेम के पाटा पटको,
गुरु-धोबिया चित लाय।
नेह की कलप, धरम की कुंडी,
हित की तह बैठाय,
ऐसी "करीम" चुन्दरी धोऊँ,
तब ओढ़ूं चटकाय।

इसी प्रकार के न जाने कितने गाने सूफी फ़कीरों के बनाए हुए इस देश में भी गाये जाते रहे हैं जिनका यदि संकलन किया जाय तो वह सूफ़ीमत एवं साहित्य की अमूल्य निधि हों।

सूफ़ी फ़कीर खास तौर पर कम्बलों का—अधिकतर काले रंग के—व्यवहार करते रहे हैं, पहनने और सोने दोनों के लिए ही, और यही कारण है कि कुछ लोग सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति ऊन (अरबी शब्द सूफ=ऊन) से मानते हैं, कुछ युनानी भाषा का शब्द "सोफिया"(ज्ञान) से।

---

१. शमा। २. छोटी कोठली। ३. नमाज़ की जगह।

इसके अर्थ के सम्बन्ध में और भी अनेक प्रकार की अटकलबाज़ियाँ लगायी गई हैं पर निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

कालान्तर में अघोर-मत की भाँति सूफ़ीमत को भी एक घोर संकट से गुज़रना पड़ा—रंगे सियारों से आविर्भाव से। बहुतेरे ढोंगी साधु-सूफ़ी वेश-भूषा धारण कर इस सम्प्रदाय में आ घुसे तथा इसकी ओट से नाना प्रकार के कुकृत्यों—भ्रष्टाचारों—में संलग्न हो गये। परिणाम यह हुआ कि तमाम इस्लामी मुल्कों में सूफी बदनाम हो गए, लोग इन पर कीचड़ उछालने लगे। शेख़-सादी का यह शेर इसी परिस्थिति एवं मनोभाव का द्योतक है—

मोहतसिब दर क़फ़ाए-रिन्दानस्त,
ग़ाफ़िल अज सूफियाने शाहिदबाज़।

अर्थात्, कोतवाल तो इन गरीब रिन्दों के पीछे पड़ा हुआ है, और इन दुष्कर्मों में पड़े हुए सूफ़ियों के जालसाज़ियों से बेख़बर है, इन्हें पकड़ता नहीं!

आज यहाँ भी अघोरपंथी साधुओं का कुछ यही हाल है! अभी पिछले दिनों कुछ साधु पकड़े गये हैं, उत्तर प्रदेश में, जो बच्चों को उड़ा ले जाते और उन्हें मार खाते हैं! बावजूद इन बदकार सूफ़ियों के सूफ़ीमत का महत्व कम न हुआ और इसने फिर भी अनेकों पहुँचे हुए फ़कीर,—महात्मा—पैदा किये। सूफ़ी शायर भी, जिनके विचार सूफ़ियाना थे पर रहन-सहन संसारी, अर्थात् संसार में रहकर—गृही होकर—भी जिनके विचार सूफियों-जैसे रहें। मुग़लवंश के अन्तिम सम्राट् बहादुरशाह ज़फ़र ऐसे ही एक कवि थे जिन्होंने लिखा था—

न देखा वो कहीं जलवा जो देखा खानाए दिल में,
बहुत मसजिद में सर मारा बहुत सा ढूंढा बुतखाना।

मीर तकी ने कहा—

किसको कहते हैं नहीं मैं जानता इस्लाम व कुफ़्र,
दैर हो या काबा मतलब मुझको तेरे दर से है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की भावना को मीर अनीस ने इन शब्दों में व्यक्त किया था—

गुलशन में सबा को जुस्तजू तेरी है।
बुलबुल की जबाँ पे गुफ़्तगू तेरी है।
हर रंग में जलवा है तेरी कुदरत का,
जिस फूल को सूँघता हूँ बू तेरी है।

चुम्बक की तरह परमात्मा उसे अपनी ओर खींचता है और सूफ़ी भावनाओं से ओत-प्रोत आत्मा, मिलनातुर, एक बेचैनी की-सी अवस्था में दिन और रातें काटा करता है फिर भी कहता है—

उसका जीना भी कोई जीना है,
दर्ददिल में जो मुब्तला न रहा।

संक्षेप में, सूफ़ीवाद का यही इतिहास और रूप-रेखा है।

परिशिष्ट ५

युसुफ और जुलेखा

युसुफ मिश्र के एक भविष्यवक्ता (पैगम्बर) याकूब के पुत्र थे। कनान नामक स्थान में वह पैदा हुए। १२ भाई थे जिनमें युसुफ और बिन-ए-बीन सबसे छोटे थे। बाकी १० इन लोगों के सौतेले भाई थे।

युसुफ स्वभाव के बड़े ही नेक थे, और इसी लिए इनके पिता इन्हें बहुत प्यार करते थे। एक दिन इन्होंने स्वप्न देखा कि सितारों ने इन्हें चारों ओर से घेर लिया है और चन्द्रमा तथा सूर्य इन्हें झुककर सलाम कर रहे हैं। जब इन्होंने अपने पिता से इस स्वप्न के विषय में कहा तो याकूब ने भविष्यवाणी की कि युसुफ एक बहुत बड़े भविष्यवक्ता होंगे। फिर उन्होंने युसुफ को मना किया कि वह इस स्वप्न के सम्बन्ध में किसी से चर्चा न करें, क्योंकि अगर सौतेले भाइयों को पता लग जायगा तो वे युसुफ से ईर्या करने लगेंगे तथा उन्हें हानि पहुँचाने की चेष्टा भी। पर धीरे-धीरे भाइयों को उनकी प्रतिभा का आभास मिलने लगा। फिर युसुफ देखने में भी बड़े ही सुन्दर थे। अतः उनके सौतेले भाई ईर्यान्वित हो उठे। एक दिन उन्होंने पिता से अनुरोध किया कि वह युसुफ को उनके साथ शिकार में जाने की इजाज़त दें। पहले तो याकूब तैयार न हुए पर जब उन्होंने बार बार कहा तो आज्ञा दे दी। पर साथ ही उन्होने लड़कों से प्रतिज्ञा भी करा ली कि वे युसुफ को सही सलामत वापस ले आयेंगे।

पास के ही एक जंगल में वे शिकार खेलने गये। वहाँ उन लोगों ने युसुफ को एक कुएँ में गिरा डाला ताकि वह वही मर जायें। फिर दूसरे दिन वे रोते कलपते पिता के पास पहुँचे और बोले कि युसुफ को एक खूँख्वार जानवर ने मार डाला। यही नहीं उन लोगों ने युसुफ के रक्त से सने कपड़े भी दिखलाए जिसे कि वे जंगल से ही हिरण के खून में रंग कर लाए थे। याकूब के लिए अब कोई चारा न रहा सिवा इसके कि वह युसुफ की शाँति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करे।

इधर मिश्र की ओर जाते हुए एक व्यापारी ने युसुफ को देखा, कुएँ से बाहर निकाला और उसे अपने साथ मिश्र लेता गया । बेचने के इरादे से उसे बाज़ार में खड़ा किया। खरीददारों की भीड़ लग गयी । यहाँ तक कि उसकी सुन्दरता की शोहरत सुनकर अज़ीज़-ए-मिश्र बादशाह की बेगम जुलेखा भी उसे देखने को वहाँ आयी । जुलेखा युसुफ को देखते ही उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गई और उसके प्रेम में पड़ गई, और एक बड़ी रकम देकर युसुफ को खरीद लिया। जुलेखा ने बादशाह से कहा कि वे निःसन्तान हैं तो क्यों न युसुफ को ही गोद ले लें । बादशाह राजी हो गये और इस तरह युसुफ की शिक्षा-दीक्षा अब राज-प्रासाद में होने लगी।

कुछ वर्ष इसी भाँति बीते । सहसा एक दिन जुलेखा ने युसुफ के प्रेम में पागल होकर एक कमरे में अपने को युसुफ के साथ बन्द कर लिया। और फिर वह काम चेष्टा में संलग्न हो गयी । पर युसुफ स्वभाव से ही साधु थे, अतएव वहाँ से भागे और दरवाज़ा खोल बाहर जाने की चेष्टा करने लगे । जुलेखा ने उनका पीछा किया और उनका कपड़ा पकड़ उन्हें रोकने की चेष्टा की । युसुफ की कमीज़ पीछे से फट गयी । उन्होने ज्यों ही दरवाज़ा खोला, बादशाह को खड़ा पाया । बादशाह युसुफ को अस्त-व्यस्त अवस्था में देखकर इसका कारण पूछने लगे। तब तक वहाँ जुलेखा भी पहुँच गई और बादशाह से कहने लगी कि युसुफ ने उसके साथ बलात्कार करने की चेष्टा की है । महल के और लोग भी वहाँ इकट्ठा हो गये जिनमें बादशाह के चचेरे भाई की पत्नी भी थीं जिनकी गोद में एक बच्चा था । वह आपने-आप बोल पड़ा कि यदि युसुफ की कमीज़ सामने से फटी हो तो युसुफ दोषी हैं पर यदि उनकी कमीज़ पीछे से फटी हो तो जुलेखा का ही दोष है चूँकि युसुफ ने भागने की चेष्टा की होगी और जुलेखा ने उन्हें पीछे से पकड़ा होगा जिससे उनकी कमीज़ फटी होगी । बातें सुन बादशाह बड़े चकित हुए और उन्हें उस शिशु का कथन सही जान पड़ा । अतः उन्होंने जुलेखा को दोषी ठहराया। फौरन ही यह समाचार सारे शहर में फैल गया । जुलेखा लोगों को अपनी मजबूरी का विश्वास दिलाना चाहती थी। अतः उसने शहर की कुछ प्रमुख आदरणीय महिलाओं को आमन्त्रित किया, फिर युसुफ को बुलाकर सामने खड़ा किया और उन सब महिलाओं के हाथ में एक-एक नीबू तथा चाकू देकर नीबू

के दो टुकड़े करने को कहा। सभी महिलाएँ युसुफ का असाधरण सौन्दर्य देखकर ऐसी मुग्ध हुई कि सबों ने नीबू के बदले अपनी अपनी अँगुलियाँ काट लीं। तब जुलेखा ने उनसे पूछा कि युसुफ से प्रेम करने में उसका कोई दोष था या नहीं। सभों ने एक स्वर से कहा—नहीं।

कुछ दिनों के बाद जुलेखा को युसुफ से बदला लेने का मौका हाथ आया, और उसने उसे जेल भिजवा दिया। उसी दिन बादशाह के दो और नौकर भी जेल में आए जिनमें एक साकी के काम पर था और दूसरा रसोईदार के। कुछ दिनों के बाद दोनों ही नौकरों ने एक एक स्वप्न देखा। जाम भरने वाले ने देखा कि वह प्याले में शराब भर-भर कर दे रहा है। खाना पकाने वाले ने देखा कि वह सिर पर रोटियों की एक टोकरी लिए जा रहा है और गिद्ध उन रोटियों को खा रहे हैं। दोनों ही स्वप्न का अर्थ जानने को व्यग्र हो उठे और युसुफ से जाकर अपना स्वप्न कह सुनाया। थोड़ी देर चुप रह कर युसुफ ने कहा कि जाम भरने वाला तो राजमहल में फिर से अपने काम पर रख लिया जाएगा पर भोजन पकाने वाले को फाँसी मिलेगी जिसके बाद उसके शरीर के टुकड़ों को गिद्ध खाएँगे। कुछ दिनों बाद जब वे दोनों जेल से मुक्त हुए तो युसुफ की भविष्यवाणी सच निकली, पहला तो राजमहल में रख लिया गया और दूसरा फाँसी पर चढ़ा। फिर एक रोज बादशाह ने स्वप्न में सात मोटी तथा सात पतली गऊएँ देखी। सात हरे और सात सूखे नाज के बाल भी देखे। दूसरे दिन सवेरे ही बादशाह ने दरबारियों को इकट्ठा किया और इस स्वप्न का अर्थ लगाने को कहा, पर कोई भी इसका अर्थ न लगा सका। पूर्वोक्त जाम भरने वाला नौकर भी वहाँ था। उसने युसुफ के सम्बन्ध में कहा। युसुफ को बुलाया गया तथा इसका अर्थ लगने को उनसे कहा गया। उन्होंने सोच विचार कर कहा—आज से आगे के सात वर्ष बड़ी खुशहाली में व्यतीत होंगे, पर बाद के सात वर्षों में घोर अकाल का मुकाबला करना पड़ेगा। अतः पहले सात वर्षों की उपज का ठीक से प्रबन्ध कर काफी नाज बचा रखना वाँछनीय होगा ताकि बाद के सात दुर्भिक्ष के वर्षों में काम आ सके। बादशाह ने उनकी बात से प्रभान्वित हो कर उस समय से राज्य का सारा प्रबन्ध युसुफ के हाथों सौंपा। उन्होंने इतना बढ़िया इन्तज़ाम किया कि लोग दुर्भिक्ष के कष्टों का अनुभव न

कर पाये।

अकाल के दिनों में युसुफ के दसों भाई अन्न की खोज में मिश्र आए। युसुफ ने देखते ही उन्हें पहचान लिया। फिर उन्हें बुलाकर अन्न प्रदान किया और कहा कि यदि वे और भी अन्न चाहते हों तो अपनी अगली यात्रा में अपने साथ छोटे भाई बिन-ए-बीन को भी लेते आयें।

उन लोगों ने सारी बातें जाकर अपने पिता याक़ूब से कहीं और अनुरोध किया कि वह बिन-ए-बीन को उनके साथ जाने दें जिससे कि उन्हें और अन्न प्राप्त हो सके। पहले तो याक़ूब हिचके पर जब उनके लड़कों ने बार बार अनुरोध किया तो उन्होंने बि।-ए-बिन को उनके साथ जाने की अनुमति दे दी। तत्पश्चात वे सभी मिश्र के लिए रवाना हुए और वहाँ पहुँच कर युसुफ से मिले। युसुफ ने इनका हार्दिक स्वागत किया, बड़े आराम से रखा और उन्हें काफी अन्न प्रदान किया। युसुफ अपने छोटे भाई बिन-ए-बीन को अपने पास ही रखना चाहते थे। अतः उन्होंने एक उपाय सोचा। भाइयों के अन्न के बोरे में एक सोने का राजकीय ग्लास छुपाकर रखवा दिया। फिर जब वे कनान के लिए रवाना हुए तो युसुफ ने एलान किया कि सोने का एक ग्लास खो रहा है। देश की सीमाओं पर उसकी तलाश होने लगी और संयोगवश उनके भाइयों के अन्न के बीच ही वह ग्लास पाया गया। वे सभी दरबार में पकड़ कर लाए गये। युसुफ ने आज्ञा दी कि सबके बदले केवल बिन-ए-बिन ही जेल में रखे जायें। बाकी भाइयों को कहा कि वे जाकर अपने पिता को भेजें तभी बिन-ए-बीन को छुटकारा मिल सकेगा। वे बोले कि उनके पिता बहुत वृद्ध हो चुके हैं, आँखों की ज्योति और शरीर की शक्ति क्षीण है, अतः इतना लम्बा सफ़र करने में वह समर्थ न हो सकेंगे। युसुफ ने तब उन्हें अपना चादर दिया और कहा कि इसे ले जाकर वे अपने पिता के मुँह पर रखें, उनकी सारी शक्तियाँ लौट आयेंगी। फिर वे उन्हें यहाँ ले आयें। उन्होंने घर लौट कर ऐसा ही किया और युसुफ की वाणी सत्य निकली। याक़ूब को अब युसुफ के जिन्दा होने का विश्वास हुआ और वह ईश्वर को बारम्बार धन्यवाद देने लगे कि उनका युसुफ जैसा पुत्र जीवित है। युसुफ ही याक़ूब के बाद भविष्यवक्ता होने वाले थे और अज़ीज़-ए-मिश्र के बाद मिश्र के राजासन पर भी युसुफ़ को ही बैठना था। अज़ीज़-ए-मिश्र

ने युसुफ को उनकी योग्यता के कारण ही गोद लिया था । याक़ूब अब अपने लड़कों के साथ युसुफ से मिलने चले । युसुफ को पहले से ही खबर मिल गयी कि उनके पिता आ रहे हैं । अतः वह राज्य की सीमा पर ही उनसे मिलने गये तथा बड़े आदर एवं ठाट-बाट के साथ उन्हें राजमहल में लाये । तब से वे साथ रहे और यथासमय युसुफ मिश्र के तख्त पर आसीन हुए । उनकी कथा बाईबल (ओल्ड टेस्टामेंट) तथा इस्लाम की धार्मिक पुस्तकों में आयी है । साहित्य में वह अपने अद्वितीय सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है तथा अरबी-फारसी-उर्दू के काव्यों में उनका बारम्बार उल्लेख आया है । इस्लाम संसार का कहना है कि आज तक उन-जैसा सुन्दर कोई दूसरा पैदा न हुआ, भगवान की ओर से उन्हें इसका खास दान मिला हुआ था । ईश्वर का ही सौन्दर्य मानो उनमें झलक पा रहा हो । बकौल "वेदिल" के शब्दों में--

हुस्ने युसुफ में खुदा जाने था कैसा जलवा,
आज तक फिर न कोई युसुफे-कनआँ निकला ।

परिशिष्ट ६

कोहनूर की कथा

कोहनूर संसार के मशहूर हिरों में से है और यदि इसके इतिहास पर हम नज़र डालें तो देखेंगे कि इसका जीवन एक बड़ा ही "रोमान्टिक" जीवन रहा—दुःख और सुख का बारी-बारी से, जिसमें खेल होता रहा, क्रीड़ा होती रही। फ्राँस की प्रसिद्ध महारानी मेरी एन्तोनाॅत के हीरों के हार की भाँति यह भी संसार के साहित्य और इतिहास में अमर हो गया है।

इसका जन्म दक्षिण में कृष्णा नदी के तटवर्ती कोलूर की खान में हुआ था तथा सन् १६५७ ई० में मीर जुमला ने इसे ले जाकर जवाह-रातों के निपुण पारखी बादशाह जहाँगीर के पेशे-नज़र किया। उस वक्त इसका वज़न ७५६ करैट (Carats) था।

शाहजहाँ के हुक्म से यह हार्टेन्सियो बोर्जियो नामक एक विदेशी कारीगर के द्वारा छील-छाल कर दुरुसत किया गया जिसके कारण इसके वजन में काफी कमी आ गयी। १६६५ में प्रसिद्ध विदेशी यात्री टैमर-नियर को इसे औरंगज़ेब के तोशखाने में देखने का अवसर प्राप्त हुआ था जबकि इसका वज़न २६८$\frac{१९}{५०}$ करैट था।

१७३९ में इसे-निष्कासन का दण्ड भुगतना पड़ा जब नादिरशाह ने तत्कालीन मुग़ल बादशाह मुहम्मदशाह को पराजित कर तख्ते-ताऊस के साथ-साथ इसे भी अपने संग फारस लेता गया। इसका कोहेनूर (ज्योति का पर्वत) नाम भी, कहते हैं, उसी ने रक्खा।

१७४७ में नादिरशाह षड्यंत्रियों के द्वारा क़त्ल कर दिया गया। तब यह उसके पौश मिर्ज़ा शाहरूख के, जिसने अपनी राजधानी खुरासान प्रान्त के माशहद नामक शहर में बनायी, हाथों में आया।

नादिरशाह की मृत्यु के बाद अहमद शाह अब्दाली ने हिन्दुस्तान के उन प्रान्तों को जिन्हें नादिरशाह ने अब भी अपने कब्ज़े में कर रक्खा

था, (कान्धार, काबुल, ताता, बाकर, मुलतान तथा पेशावर को) हथिया कर अफ़गानिस्तान के राज्य का निर्माण किया तथा वहाँ का शासक बन कर राज्य करने लगा। यहाँ से वह कभी तो हिन्दुस्तान पर और कभी खुरासान पर चढ़ाई करता रहा।

इधर मिर्ज़ा घरेलू झगड़ों के चंगुल में जा फंसा, दुश्मनों ने उसकी आँखें निकाल डालीं और उसे गद्दी से भी उतारना चाहा। अहमद फ़ौज लेकर उसकी मदद को आ धमका, बलवाइयों को परास्त करके उन्हें क़त्ल किया तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र तैमूरशाह की शादी शाहरुख की शाहज़ादी से करके दोनों परिवारों को सम्बन्ध-सूत्र में बाँधा। लौटते वक्त कोहनूर को अपने साथ लेता गया। और इस तरह सन् १७५१ में वह अहमद शाह अब्दाली के अधीनगत हुआ।

अहमदशाह के बाद तैमूर गद्दी पर बैठा और उसके बाद ज़मां, उसका ज्येष्ट पुत्र। कोहनूर इनके पास रहा। (१७७२-९३)

ज़माँ, पर, अधिक दिनों तक तख्त पर आसीन न रह सका। कुछ ही वर्षों में उसके छोटे भाई महमूद ने उससे गद्दी छीन ली—अपने दोस्त आशिक के किले में जाकर ज़माँ ने शरण ली, पर आशिक ने धोखा दिया, इसकी खबर महमूद को दे दी तथा उसे किले में बन्दी बना रक्खा। ज़माँ कोहनूर को अपने संग छिपा कर लेता आया था। जिस कमरे में वह बन्दी बना कर रखा गया उसके ही एक छिद्र में उसने उसे छिपा रक्खा।

खबर पाकर महमूद आशिक के घर पर आ पहुँचा, ज़माँ की आँखें फोड़वा डालीं और उससे कोहनूर को तलब किया। ज़माँ ने कहा—मैंने आते वक्त नदी में फेंक डाला।

दो साल के बाद, उनके तृतीय भ्राता सुलतान सुजा महमूद को गद्दी से उतार स्वयं राजासन पर जा बैठा। इसमें ज़माँ की उसे अनुमति प्राप्त थी। सुजा ने महमूद की आँखें फोड़नी चाही पर ज़माँ के मना करने से उसने ऐसा नहीं किया, पर आशिक तथा उसके समस्त परिवार को तोप की गोली से उड़ा डाला और इस तरह आशिक को मित्र तथा शरणार्थी के साथ दगा करने का फल शीघ्र ही मिल गया।

ज़माँ ने सुजा को कोहनूर कहाँ छिपा है यह बता दिया तथा १७९५ में वह सुजा के कब्ज़े में आया।

पर महमूद ने कोशिशें छोड़ी नहीं, एक बलवान सेना का निर्माण किया और चन्द वर्षों के भीतर ही उन्हें परास्त कर पुनः गद्दी पर जा बैठा। उसके दोनों भाई ज़माँ और सुजा, भागकर हिन्दुस्तान चले आये तथा पंजाब के लुधियाना नामक शहर में निवास करने लगे। पंजाब के तत्कालीन शासक महाराजा रणजीतसिंह ने उन्हें आश्रय प्रदान तो किया पर उनसे कोहनूर ले लिया और इस प्रकार वर्षों के बाद यह हीरा पुनः अपने वतन को लौटा। यह १८१३ की घटना है।

महाराजा रणजीतसिंह के बाद यह उनके पुत्र दिलीपसिंह को प्राप्त हुआ पर इसके बाद ही अंग्रेजों ने दिलीप को गद्दी से उतार कर पंजाब का अपहरण कर लिया। दिलीपसिंह को विलायत ले गये और वहीं उसके जीवन के तमाम दिन बीते।

जान लारेन्स नामक एक अंग्रेज़ के द्वारा कोहनूर १८४९ में महारानी विक्टोरिया के पास पहुँचाया गया। तबतक उसका वज़न घटकर १८६$\frac{1}{16}$ करैट हो चुका था। १८५२ में इसे पुनः काट-छाँट कर इसकी चमक बढ़ाने का उद्योग हुआ और इसके फलस्वरूप इसका वज़न १०६$\frac{1}{16}$ करैट हो गया।

आज यह इंगलिस्तान की रानी एलिज़ाबेथ द्वितीय के मुकुट की शोभा बढ़ा रहा है।

संक्षेप में, कोहनूर की अबतक की यही जीवन-कथा है। आगे की भगवान जानें!

परिशिष्ट ७

काउण्ट दि बोग्राने (Counte de Boigne)

मुगल-साम्राज्य का सूर्य जिन दिनों अस्तगामी हो रहा था, भारत-वर्ष के विभिन्न प्रान्तों में--खासकर उत्तर की ओर--तरह-तरह की सामन्तशाहियाँ स्थापित हो रही थीं तथा केन्द्रीय शक्ति के क्षीण हो जाने के कारण अमन-चैन अस्तप्राय-सा था। "जिसकी लाठी, उसकी भैंस" की स्थिति थी। स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में लड़नेवालों--ऐसे लोगों की जो युद्ध-कौशल में निपुण हों तथा मौका पड़ने पर दुश्मन के खिलाफ बाहु-वल एवं अस्त्र-शस्त्रादि से सहायता पहुँचा सकें--की बड़ी पूछ होती। देश की उपर्युक्त अशांतावस्था बहती गंगा के समान थी जिसमें देश के ही नहीं बल्कि विदेश से आये हुए अनेकों लड़ाकू योद्धा, परिस्थिति से लाभ उठाने वाले अर्थाकांक्षी पूरी तरह हाथ धो रहे थे। काउण्ट दि बोग्राँ ऐसे साहसी व्यक्तियों में एक था जो इस देश के विभिन्न सामन्तों की ओर से भाड़े पर अपनी तलवार का उपयोग करता रहा। समरू की तरह दि बोग्राँ का जीवन भी एक तूफ़ानी जीवन था।

सन् १७५१ में उसका जन्म सारडिनिया राज्य के अन्तर्गत शैमबेरी नामक स्थान में हुआ। ड्युअल (Duel) में Piedmontese के एक ज़मींदार की हत्या करने के कारण उसे फ्रांस भागना पड़ा। पांच वर्षों तक आयरिश ब्रिगेड में काम करने के बाद वह रूस चला गया तथा सारी शारीरिक सुन्दरता के कारण प्रसिद्ध रूसी शाशिका कैथराइन ने उसे अपना माशूक बना लिया। पर कैथराइन के साथ उसका यह सम्बन्ध अधिक दिनों तक न बना रहा, कैथराइन ने, जैसा कि वह अपने सभी प्रेमियों के साथ करती रही, कुछ ही दिनों के बाद उसे कप्तान बना कर तुर्की-युद्ध-क्षेत्र में भेज दिया।

युद्ध में वह बन्दी बना तथा कुस्तुनतुनिया के बाज़ार में दास-कार्य के निमित्त बिक्रीत हुआ। युद्ध-समाप्ति के बाद उसे मुक्ति मिली और वह

घूमता-घामता स्मरना आ पहुँचा। वहाँ उसकी भेंट इंगलैण्ड के कुछ व्यापारियों के साथ हुई जिन्होंने भारतवर्ष में धन कमाया था। उनसे हिन्दोस्तान में दौलत हासिल करने के साधनों का हाल सुनकर उसके मुँह में पानी आ गया तथा वह भारतवर्ष के लिए चल पड़ा। दैवदुर्विपाक से जिस जहाज़ से वह आ रहा था वह पैलेस्टाइन के पास डूब गया। जहाज़ के यात्री तथा चालक, सभी अरब-निवासियों के हाथ बन्दी हो गये। पर दि बोग्राँ की चाल-ढाल से खुश होकर उन्होंने उसे मुक्त ही नहीं किया बल्कि एलेकज़ेन्द्रिया तक का जहाज़-भाड़ा भी दे डाला ! वहाँ ड्यूक ऑफ नौरदम्बरलैण्ड (Duke of Northumberland) के एक पुत्र से उसकी मुलाकात हुई जिसने वारेन हैस्टिंग्स् (Warren Hastings) के नाम उसे एक परिचय-पत्र दिया। वारेन हैस्टिंग्स् ने उसे अपने एक खत के साथ नवाबे-अवध के पास प्रेषित किया।

नवाब-अवध ने उसकी बड़ी कद्र की तथा उसे तरह-तरह की बहुमूल्य भेंटें भी दीं, पर दुर्भाग्य से अभी भी उसका पिण्ड न छुटा। रास्ते में मराठों से उसकी भेंट हो गयी; मराठों ने उसकी सारी दौलत का अपहरण कर लिया। दु:खापन्न होकर वह निराश कलकत्ते लौट आया।

हैस्टिंग्स् उसे चाहने लगा था, अतः उसने पुनः उसे सिन्धिया के नाम एक खत देकर उनके पास भेजा। सिन्धिया अपनी फ़ौज की शिक्षा-दीक्षा यूरोपीय ढंग पर करा रहे थे सो उन्होंने बड़ी खुशी के साथ उसे अपनी फ़ौज में अफ़सर बनाकर रख लिया।

राजपूतों के साथ उस समय सिन्धिया का युद्ध चल रहा था। दि बोग्राँ के कारण इस युद्ध में सिन्धिया की पूरी जीत हुई तथा उसकी किस्मत का सितारा चमक उठा। सिन्धिया ने उसे काफी धन देकर पुरस्कृत किया।

दि बोग्राँ ने फारस की एक राजकन्या के साथ विवाह करके उसे ईसाई बनाया तथा उसका नाम कैथराइन रक्खा। अलीगढ़ में, सरधने में समरू की भाँति, अब वह बड़ी शान-शौकत के साथ, नवाबों की तरह, रहने लगा। उस रास्ते से जो कोई भी यूरोपियन गुज़रता उसे वह अपने घर पर बगैर खिलाये आगे न बढ़ने देता था। ऐसे ही एक यात्री Twining (ट्वाइनिङ्ग) ने लिखा है—

चार बजे खाना परोसा गया। यह हिन्दुस्तानी ढाँचे में था—पुलाव, शोरबा, तरह-तरह के तथा बहुतायत के साथ। मछली खस्सी तथा मुर्गी के गोश्त भी थे। कमरे के बीचोबीच एक बड़े से मेज़ पर तश्तरियाँ लगायी गयीं और उनमें एक दर्जन खानेवालों के लायक चीज़ें परोसी गयीं हालाँकि खानेवाले सिर्फ दो ही थे—जेनरल दि बोग्राँ और मैं!

भोजनोत्तर दि बोग्राँ का हुक्का आया। इसे देखकर ट्वाइनिङ्ग ने अत्यन्त प्रभावित होकर लिखा—

"What a mean and vulgar thing does the tobacco pipe seem, when compared with this!"

अलीगढ़ रहते हुए वह बहुधा लखनऊ, कलकत्ता आदि की सैर किया करता था। लखनऊ में वह जेनरल मार्टिन के साथ ठहरा करता था जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनका घर वेश्याओं, दासों, लैटिन, फ्रेंच, इटालियन, अंग्रेजी, फारसी तथा संस्कृत के ग्रन्थों से भरा हुआ था। कलकत्ते में वह वारेन हैस्टिंग्स का अतिथि होता।

जिन दिनों शाह आलम को लेकर सिन्धिया तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों के बीच अनबन हो गयी, दि बोग्राँ ने सिन्धिया का साथ दिया जिसके कारण वह अंग्रेज़ों को आँखों में काँटों की भाँति खटकता रहा।

परिशिष्ट ८

तख्ते ताऊस

पुस्तक के आरम्भ में नादिरशाह के आक्रमण का ज़िक्र है। दिल्ली की लूट का भी, जाते वक्त वह करोड़ों जवाहरात जो मुग़ल बादशाहों के तोशखाने में सदियों से सुरक्षित चले आते थे, लेता गया। इनमें कोहनूर और तख्ते ताऊस भी थे। दरअसल मुग़ल-तोशखाने को वह सूना कर गया।

कोहनूर की तरह तख्ते ताऊस भी शाहजहाँ की प्रसिद्ध निधियों में था। कहते हैं, मुग़लों में शाहजहाँ जैसा रत्नों का पारखी कोई दूसरा न हुआ। प्रतिदिन उसके दरबार में देश-देश के जौहरी बहुमूल्य—हीरा, माणिक, पन्ना, पुखराज आदि—पत्थरों को लेकर उपस्थित हुआ करते थे, वह उन्हें आँखों से देख कर ही उनका मूल्यांकण करते तथा पसंद की चीज़ों को खरीदा करते थे। बहुतेरे ऐसे लोग जिन्हें किसी कीमती पत्थर का मूल्याङ्कण करना होता था उसे लेकर बादशाह के दरबार में हाज़िर होते थे तथा बादशाह बड़ी खुशी के साथ उनकी कीमत कूत देते थे।

स्वभावतः बादशाह का रत्न-भंडार संसार के तत्कालीन सभी रत्न-भंडारों से सवाया था।

उनकी इच्छा एक ऐसे तख्त बनवाने की हुई जो दुनिया के सभी तख्तों से बढ़ा-चढ़ा हो। यूरोप के दो मशहूर कारीगर—आस्टिन, जो बोरडों का रहने वाला था, तथा जेरेनिमो वेरोनियो, संयोगवश उन दिनों मुग़ल दरबार में ही थे। उनकी देख-रेख में इसकी रूप-रेखा निमित हुई तथा दरबार के निपुण कारीगरों ने छः साल में इसे तैयार कर दिया। देखने में चारपाई के किस्म का, छः फुट लम्बा, सोने के चार खम्भों पर स्थित इस तख्त का पिछला हिस्सा हू-बहू मोर की पूँछ के रंग और आकार-प्रकार का था जिसमें उच्च श्रेणी के हीरे, माणिक और नीलम लगे हुए थे। छत के छोटे-छोटे आधार-स्तम्भ सोने के बने हुए, पन्ना तथा मोतियों से आच्छादित थे। ज़ाहिर है कि ऐसे बहुमूल्य राजासन का मूल्य करोड़ों में होता।

१७वीं सदी में जीन थैवनो--फ्राँसीसी यात्री भारतवर्ष आया था। उसने लिखा है--"कहते हैं कि इसमें बीस करोड़ का तो केवल सोना ही लगा है पर कौन इसकी कीमत कूत सकता है? इसका मूल्यांकण तो इसके बहुमूल्य पत्थरों की कीमत जानने पर ही किया जा सकता है जिनसे यह लदा हुआ है।"

इसी तरह अन्यान्य विदेशी यात्रियों ने भी इसके सम्बन्ध में लिखा है और इसकी कीमत के सम्बन्ध में तरह-तरह की अटकलबाज़ियाँ लगाई हैं। पर इतना निश्चित है कि इसका मूल्य ९, १० करोड़ रुपयों से कम न था।

प्राय: एक सौ वर्षों तक यह मुग़ल बादशाहों के दरबार की शोभा बढ़ाता रहा और अन्त में मुहम्मद शाह रंगीला के अयोग्य हाथों से अपहृत होकर नादिरशाह के हाथों में चला गया।

नादिरशाह को यह इतना अधिक पसन्द था कि वह जहाँ जाता इसे साथ ले जाता था। उसके बाद यह आगा महम्मदशाह--जिसने फ़ारस की बादशाहत भी नादिरशाह के मरने पर हड़प ली--के हाथों पड़ा।

१८वीं सदी के आखिरी हिस्से में यह अंग्रेज़ों के हाथ लगा। मद्रास लाया गया और वहाँ से "ग्रासभेनर" नामक जहाज़ से, जून १७८२ में, वह इंगलिस्तान के लिए रवाना हुआ पर दुर्भाग्यवश जहाज़ एक घोर तूफान के चंगुल में, पूर्व-अफ्रीका के आसपास, जा फंसा और अन्त में जल-समाधि को प्राप्त हुआ। साथ-साथ "तख्ते-ताऊस" भी। तब से प्राय: सोलह बार हिन्द-महासागर के गर्भ से उसे बाहर निकालने के यत्न हुए पर वह निकल न सका--सिन्धु-क्रोड़ में सोया हुआ वह आज भी शाहजहाँ-कालीन भारत के स्वप्न देखा करता है!

कसीदे की ज़बान ग़ज़ल की अपेक्षा कहीं ज्यादा शानदार होती है, शायर अपनी कला का इसमें प्रदर्शन करता है तथा बड़ी दक्षता के साथ अलंकारादि का प्रयोग भी।

रूबाई—यह एक छोटी-सी चार पंक्तियों की नज़्म (कविता) होती है, चार मिसरों (चरणों) की। जिसके पहले, दूसरे और चौथे मिसरे हम-काफ़िया होते हैं। पहली तीन पंक्तियाँ बतौर भूमिका की होती हैं। असल मतलब चौथी में व्यक्त किया जाता है। शुरू में इसका इस्तमाल अधिकतर दार्शनिक भावों के व्यक्त करने में किया जाता था। आजकल हिन्दी में भी इसका अत्यधिक प्रयोग होने लगा है। उमरख़्याम की रूबाइयाँ जगत् प्रसिद्ध हैं।

क़ता—यह भी रूबाई की तरह ही एक छोटी-सी नज़्म है जिसमें मतला होना ज़रूरी नहीं है। ग़ज़ल की तरह इसके शेर स्वतन्त्र नहीं, भाव अथवा अर्थ की धारा अविछिन्न होती है।

मसनवी—लम्बी नज़्मों को कहते है। किसी दास्तान अथवा किस्से के बयान केलिए यह बहुत उपयुक्त है। इसके हर शेर का तुक मिला होता है।

मुसद्दस—यह भी एक लम्बी नज़्म है। इसमें अनेकों बन्द होते हैं और इसका हर एक बन्द छः पंक्तियों का होता है जिसकी चार पंक्तियाँ हम-काफ़िया होती हैं, शेष की दो एक काफ़िये की। उर्दू के मुसद्दस विख्यात हैं, बड़े-बड़े शायरों ने इसका प्रयोग किया है, जैसे कि अनीस ने, तथा मशहूर मुसद्दस लिखे हैं जिनकी मिसाल अरबी और फारसी में भी प्राप्य नहीं है। हाली का मुसद्दस प्रसिद्ध है, इकबाल का भी।

मुस्तज़ाद—ग़ज़ल की तरह की ही एक नज़्म है, अन्तर इतना है कि हर पंक्ति के समाप्त होने पर उसी तुक की आधी पंक्ति और जोड़ दी जाती है, स्वभावतः एक चरण बड़ा और दूसरा छोटा होता है। ज़फ़र ने बड़ी खूबी के साथ इसका प्रयोग किया है।

मुखम्मश—पाँच पंक्तियों के बन्द की एक लम्बी नज़्म।

तरकीबबन्द—एक लम्बी नज़्म जिसका हर बन्द हम-काफ़िया होता है। अन्त में भिन्न काफ़िये में एक शेर होता है जिसे बन्द कहते हैं।

तरजीयबन्द—यह भी तरकीबबन्द के किस्म की ही एक नज़्म है,

फ़र्क यह है कि तरकीबबन्द में हर बन्द का शेर अलग-अलग होता है, पर इसके हर एक बन्द के अन्त में एक ही शेर पलट-पलट कर आता है।

काफ़िया—अन्त्यानुप्रास।

रदीफ़—प्रत्यानुप्रास के वे हर्फ या शब्द जो बदलते नहीं।

शेर—दो पंक्तियों की वह कविता जिस में तुक नहीं मिलते।

मिसरा—शेर का आधा हिस्सा, एक चरण।

मतला—ग़ज़ल के शुरु के दो चरण जो हम-क़ाफ़िया होते हैं।

मक़्ता—ग़ज़ल का अन्तिम शेर जिममें शायर अपना तखल्लुस (उपनाम) दिया करता है।